

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 09, अंक : 36, अक्टूबर-दिसंबर 2022

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का



# मुक्ताचल

विमर्श-1

कथालोचन

शिवविष्ट सन्दर्भ



विद्यार्थी मंच

मूल्य : 100 रुपये



उस पार से.....

राजेंद्र यादव

(28 अगस्त 1929 - 28 अक्तूबर 2013)



आज जो चीज़ लेखक को नया बनाती है वह है यथार्थ को रू-ब-रू देखने की दिशा में हर पूर्वाग्रह और परम्परागत दृष्टिकोण को छोड़ने की अकुलाहट हर लीक को तोड़ने का आक्रोश। शायद परम्परा-यानी, चली आती धारा के प्रति, तीव्र असन्तोष, भीतरी घृणा महसूस किये बिना न तो किसी लोक को छोड़ा जा सकता है, न उसे आगे बढ़ाया जा सकता है। घर के छोटे और ओछेपन, या ना-काफ़ी होने से जब तक मन सचमुच भीतर तक डिस्पास्टेड नहीं हो उठता, तब तक न तो उस घर में कोई संशोधन और इज़ाफ़ा करने की बात सोची जा सकती है, न उसे बदलने की। नये कथ्य की समृद्धि को अनुभव करते हुए, तत्कालीन परम्परा के प्रति यह असन्तोष और वितृष्णा ही किसी लेखक को नया बनाते हैं, मात्र सम-वयस्क और समकालीन होना ही नहीं। धारा के प्रति उसकी यह घृणा भले ही उसे परम्परा-ध्वंसकों की किसी परम्परा में जोड़ देती हो- विद्रोहियों की एक परम्परा से।

एक दुनिया : समानान्तर

1993



# मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष - 9, अंक - 36, अक्तूबर-दिसंबर 2022

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा  
 प्रकाशक : विद्यार्थी मंच  
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय  
 कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव  
 आकल्पक : लखनपति झा  
 प्रसार प्रबंधक : रमेश कुमार शर्मा  
 प्रूफ संशोधक : परमजीत पंडित

## परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. दामोदर मिश्र : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय  
 डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, (बर्मिंघम, यू.के.)  
 डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल  
 डॉ. अरुण कुमार : प्राक्तन प्रोफेसर, राँची विश्वविद्यालय  
 डॉ. रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (ऑटोनोमस), मिदनापुर  
 डॉ. निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल  
 डॉ. रामप्रवेश रजक : हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

## व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

विनोद यादव, विनीता लाल, सरिता खोवाला एवं  
 बलराम साव - 89107 83904

## संपर्क एवं प्रसार :

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229  
 कुणाल किशोर (के.वि. हिमाचल प्रदेश): 7998837003

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में  
 प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word)  
 या (Kurtidev010) में भेजें।

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं  
 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता  
 उच्च न्यायालय होगा।

## पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी  
 विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र  
 डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज  
 (कलकत्ता विश्वविद्यालय)  
 प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग,  
 मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद  
 डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता,  
 महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र  
 प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन  
 प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात  
 प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय  
 डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता  
 डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज,  
 महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)  
 डॉ. शुभ्रा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस  
 सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC  
 BANK BURRABAZAR, KOLKATA- 700007,  
 IFSC CODE- HDFC0000219

## संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन  
 सलाकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल  
 संपर्क - 033-26751686, 9831497320,  
 9681105070

ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com  
 sinhameera48@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,  
 कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 600 रुपये, आजीवन-3000 रुपये

संस्थाओं के लिए : वार्षिक-600 रुपये, आजीवन-3500रु.

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

मुक्तांचल अक्तूबर-दिसंबर 2022



## अवस्थिति

शो ध	6 संस्तुति आलेख	
	7 पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	अमरकान्त 'हत्यारे' का सन्दर्भ
स मी	20 धनेशदत्त पाण्डेय	सृजनात्मक साहित्य की अनुवांशिकी : सन्दर्भ चन्द्रकिशोर जायसवाल की कहानियाँ
	36 योगेश तिवारी	रचनालोक से निर्वासित अखिलेश का उपन्यास 'निर्वासन'
क्ष ण	अनुशीलन	
	43 प्रीति सिंह	अमृता प्रीतम : प्रेम के पैराडाइज की अप्सरा, स्त्री उन्मुक्तता की बेमिसाल मिसाल
सृ ज न	48 संजय देसाई	भिन्न परिवेश के सच्चाइयों की दास्तान : 'अंतिम साक्ष्य'
	53 सादिया परवीन	जनपक्षधर लेखिका मेहरुत्रिसा परवेज की कहानी 'सूकी बयड़ी' : एक सिंहावलोकन
सं चा र	शोधार्थी की कलम से	
	56 प्रेम कुमार साव	जीवन और उसकी गति के कहानीकार : शेखर जोशी
सं चा र	संस्मृति	
	61 सतीश नूतन	शहर में शलभ
सं चा र	68 निशान्त	स्मृतियों में मैनेजर पाण्डेय
	कहानी	
सं चा र	70 चन्द्रकिशोर जायसवाल	दगाबाज
	74 शशि काण्डपाल	दरीचा
सं चा र	79 नीरज नीर	स्मृतियों की रेल में
	88 सीमा प्रियदर्शिनी सहाय	माँ
सं चा र	कथन एवं सृजन	
	91 सिद्धेश	कहानी में अनुभव और अनुभूति (कथन)
सं चा र	94 सिद्धेश	पहचान (सृजन)



शोध	व्यंग्य	
	96 डॉ. पंकज साहा	हविस
समीक्षण	भाषान्तर	
	98 तेलुगु मूल : सलीम अनुवादक डॉ. वेन्ना वल्लभराव	कला गुमराह है
सृजन	कविता	
	104 सरिता खोवाला	कतरा भर धूप, दोयम दर्जे की औरतें..., अडिग वो दोनों, नवजात की तरह, रंगहीन दीवारें, मनीप्लांट की तरह, संगेमरमर की तरह
संज्ञा	106 अमित कुमार अम्बष्ट	अलाव, मिसरिया डोम, गर्म हैं तस्वीरें, फ़लक पर बैठा खुदा
	107 डॉ. अरुण तिवारी 'गोपाल'	गज़ल-1, गज़ल-2, गज़ल-3
संज्ञा	108 सुषमा कुमारी	'किताबें', 'घर के बरगद', 'सम्मान'
	109 सविता दास सवि	1. साथ-साथ, 2. कुछ नहीं, 3. बची हुई सुंदरता
संज्ञा	110 सोनम सिंह	अहिल्या, छुट्टियाँ
	111 सौरभ सतर्ष	1. बूँदभर प्यार, 2. तस्वीर तुम्हारी, 3. अंजुरी भर नेह, 4. इष्ट की प्रतिमा सी
संज्ञा	पुस्तकायन	
	113 धर्मेन्द्र कुमार पासी	समय का सच रचती कहानियां - 'छप्पन छुरी और बहत्तर पेंच'
संज्ञा	119 मृत्युंजय गतिविधियाँ	बात करती, बोलती कविताएँ
	122 सुषमा कुमारी रोहित प्रसाद 'पथिक'	'मुक्तांचल' पत्रिका के 35वें अंक का लोकार्पण प्रख्यात आलोचक डॉ. मैनेजर पाण्डेय एवं कथाकार शेखर जोशी पर श्रद्धांजलि सभा का आयोजन



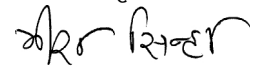
## संस्तुति

बदलते समय में आस-पास कहीं भी कुछ स्थिर नहीं है या कम से कम वैसा ही नहीं है जैसा कभी था। वह अच्छा भी था - बुरा भी - आज भी भिन्न-भिन्न मायने में अच्छे और बुरे का समीकरण सामने है। वास्तव के आईने से रूबरू हम पेशोपेश में होते हैं कि यह बदली हुई शक्ल कहाँ से आ गई और इसे कैसे 'ट्रीट' किया जाए! लिहाजा, माप-तौल के अलग पैमानों की तलाश बनती रहती है। साहित्य-समीक्षण में भी चिंतन के नए आयाम जुड़ रहे हैं - रचना के नए धरातल पर हमेशा शिल्प की नई भंगिमा उपस्थित होती है, क्योंकि नए भावबोध के सम्प्रेषण को कारगर करना होता है।

इधर, बदलती हुई दुनिया में साहित्य के विद्यार्थी बहुत 'कम्फर्टेबल' नहीं है क्योंकि उन्हें बहुत कुछ ले-देकर चलना होता है। आज के दौर के हिसाब से उन्हें 'फिटनेस' चाहिए होती है, यथा कागज और कलम का जमाना नहीं रहा मनन और चिंतन तथा उसके सम्प्रेषण पर भी तेज तकनीक हावी है। विद्यार्थी सनद हासिल करने की धुन में इतने उलझे होते हैं कि ठहरकर सोचना-समझना उनके लिए मुश्किल होता जा रहा है। आनन-फानन में लॉघते-फाँदते वे अपने अध्ययन की दहलीज पार कर लेते हैं, महत आकांक्षा की पूर्ति के साथ ही जीवन की बगिया में फूल ही फूल महक उठते हैं - उपभोक्ता संस्कृति अपने आगोश में भर लेती है बस, फिर तो आए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास की स्थिति आम है।

सबसे मजबूर इंसान पाठक के बाजार में खड़ा लेखक है जिसे चर्चा के लिए कई जुगाड़ लगाने पड़ते हैं, तरह-तरह की छतरियाँ और किस्म-किस्म के घराने फैले हुए हैं - रचनाकार अपनी रचना के साथ बिना दरवाजों को खटखटाए क्या एक शुद्ध पाठक एवं एक सबल समीक्षक को नहीं पा सकता? जाहिर सी बात है कि इस 'क्राइसिस' से निकलना आवश्यक होगा। इसी कड़ी में 'मुक्तांचल' के सम्पादन एवं प्रकाशन का संकल्प विद्यार्थी मंच ने लिया है, हम चाहते हैं कि हमारा प्रत्येक अंक कुछ विमर्श लेकर आए और उस विमर्श पर सबकी अपनी-अपनी राय, मत-अभिमत जारी हो तथा संवाद की शृंखला बन सके। साहित्य में संवाद की डोर थाम कर चलते रहना हम अध्ययन-अध्यापन से जुड़े लोगों का परम लक्ष्य है।

अस्तु, इस अंक में कथालोचना के विविध सन्दर्भों को सृजन एवं समीक्षा के माध्यम से रखा गया है। अगला अंक (जनवरी-मार्च, 2023) काव्यालोचन एवं सृजन पर विशेष रूप से केन्द्रित होगा, आशा है, शोधार्थी, विद्यार्थी एवं अध्ययनकर्ता मुक्तांचल के लक्ष्य को ध्यान में रखकर अपने लेखकीय अवदान से उसके द्वारा अभिकल्पित सफल अकादमिक परिवेश की सृष्टि में सहायक होंगे।



संपादक

मुक्तांचल अक्तूबर-दिसंबर 2022

6



अमरकान्त आज भी मेरी स्मृति में साकार हैं। मैं उनसे इलाहाबाद में सन् 1971 में सिर्फ एक बार मिला था। पर उनकी कहानियों से मेरा बार-बार मिलना और उनमें प्रवेश करना लगातार जारी रहा और अब भी जारी है।

1925 ई. में जनमें अमरकान्त हिन्दी के एक श्रेष्ठ कथाकार रहे। उनकी 'डिप्टी कलक्टरी' कहानी 1955 में प्रकाशित हुई थी। तब नयी कहानी आन्दोलन के पचासोत्तर युग में इसी कहानी ने उनकी पहचान बनायी थी। यद्यपि इसके पहले से वह कहानियाँ लिख रहे थे। पर उनकी ओर किसी का ध्यान नहीं जा पाया था। जब पहली बार उनकी ओर ध्यान गया तब यह लगा कि अमरकान्त के नाम के बिना नयी कहानी की चर्चा अधूरी है। मुझे उनकी चार (4) कहानियाँ 'मील के पत्थर' जैसी लगती हैं- 1. डिप्टी कलक्टरी, 2. दोपहर का भोजन, 3. ज़िन्दगी और जोंक और 4. हत्यारे। उनके 17 कहानी-संग्रह और 11 उपन्यास-कृतियाँ प्रकाशित हैं। मेरा मानना है कि अमरकान्त की कहानियों पर गहराई से विचार करने वाला, उनमें छिपी दूसरी संरचना को उद्घाटित करने वाला कोई आलोचक अब तक हिन्दी में नहीं आ पाया है। अमरकान्त की कहानी के आलोचकों में प्रायः छह आलोचकों के नाम लिये जा सकते हैं- 1. नामवर सिंह, 2. राजेन्द्र यादव, 3. विश्वनाथ त्रिपाठी, 4. सुरेन्द्र चौधरी, 5. रविभूषण और 6. मार्तण्ड। उनकी एक विशेष कहानी 'हत्यारे' पर इन सभी आलोचकों ने समय-समय पर विचार किया है। पर कोई भी कहानी के अन्तर्कथ्य को नहीं खोल सका है। कहानी के पाठ से जुड़ने की और उसके साभिप्राय अर्थ-गह्वर में प्रवेश करने की कोशिश किसी ने भी नहीं की है। बिना उससे जुड़े और उसे आत्मसात् किये 'हत्यारे' के अर्थ-गह्वर को खोलना मुमकिन भी नहीं है। कहना न होगा कि ये तथाकथित पारखी आलोचक मार्क्सवादी हैं। अतः पाठ (Text) से सामान्यतः ये नहीं जुड़ सकते थे। इनमें से जिन तीन आलोचकों का देहान्त हो चुका है; वे हैं 1. सुरेन्द्र चौधरी, 2. नामवर सिंह और 3. राजेन्द्र यादव।

प्रश्न उठता है कि क्या कहानी मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद या समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के चश्मे से ही देखी और समझी जा सकती है और अगर देखी जा सकती है, तो देखना यह होगा कि आप इन सब माध्यमों से कहानी की कैसी और कितनी अन्तर्हित साभिप्रायता को उद्घाटित कर पाये हैं।

संदर्भतः बता दूँ कि हरिशंकर परसाई को यह गुमान और मुगलता था कि साहित्यकार केवल सर्जक हो सकता है, आलोचक कभी नहीं हो सकता। यह बात उन्होंने धनंजय वर्मा को लिखी थी। इधर सुरेन्द्र चौधरी और नामवर सिंह यह मानकर चलते हैं कि सर्जक साहित्यकार के लेखन को संशोधित करने का अधिकार आलोचकों को प्राप्त है। इसी अधिकार से सुरेन्द्र चौधरी 'हत्यारे' के विषय में कहते हैं कि इस



कहानी में हत्या नहीं की जानी चाहिए थी। पर नामवर सिंह इससे सहमत नहीं होते और अमरकान्त के पक्ष में खड़े होकर कहते हैं कि हत्या के बिना यह कहानी कहानी ही नहीं बन पाती। यानी हत्या इस कहानी के कथ्य के लिए जरूरी है। पर ये दोनों इस कहानी में कथ्य की अन्तर्निहित सार्थकता और साभिप्रायता पर विचार नहीं कर पाते हैं। राजेन्द्र यादव इसमें संघर्ष नहीं देखते, जो इसमें है भी नहीं। पर कहानीकार के आत्मसंघर्ष की ओर उनका ध्यान नहीं जा पाता, जिसके कारण ही यह कहानी रची जा सकी है। राजेन्द्र यादव न केवल इस कहानी को, बल्कि इसके कथाकार अमरकान्त को ही अस्तित्ववादी कहानीकार घोषित कर देते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी की दृष्टि भी इस बात पर जाकर टिक जाती है कि इस कहानी में संघर्ष का अभाव है और वह इस कहानी के दोनों युवा पात्रों को जयप्रकाश के आन्दोलन के बाद उससे निकले युवकों के रूप में देख लेते हैं। ध्यान दीजिए ‘हत्यारे’ कहानी 1962 में लिखी जाती है और जयप्रकाश का आन्दोलन 1974 में शुरू होता है। ऐसे में उक्त कथन कितना उचित हो सकता है? यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यह कहानी अपने स्वरूप में जिस तरह है, कहानी का पाठ (Text) जिस रूप में रचा गया है, उसके उस स्वरूप के साथ ही उसपर विचार होना चाहिए, जो ये आलोचक नहीं कर पाते हैं।

पाँचवें आलोचक रविभूषण जी हैं और छठे आलोचक मार्तण्ड जी। मैंने आधा दर्जन इन मार्क्सवादी आलोचकों की ‘हत्यारे’ कहानी से जुड़ी आलोचना पढ़ी और सुनी है। पाँचवें और छठे आलोचकों का आलोचना-पाठ दो-तीन बार इस आशा से सुना है कि उसमें कहीं कुछ कहानी के विषय में महत्वपूर्ण मिल पाये, पर मुझे निराशा

ही हाथ लगी है। इस कहानी में किसी भी आलोचक के द्वारा परकाया प्रवेश संभव नहीं हो सका है और न इस कहानी को कोई आत्मसात् ही कर सका है। यह तो तभी संभव है जब इसके कथ्य-गह्वर में इनको एंट्री मिल पाती है। हाँ, परवर्ती दो आलोचक ‘हत्यारे’ को बेस बनाकर भानुमती का कुनबा अवश्य जोड़ते और दूर की कौड़ी लाने में जरूर माहिर सिद्ध होते हैं। कहानी के समकाल की जगह उससे बाहर आकर ये ‘आज के समय’ को खोजने लगते हैं। रविभूषण 1944 से ‘आज का समय’ को रेखांकित और परिभाषित करने लगते हैं। पर उनसे असहमत मार्तण्ड इसे इसके बाद के समय में रेखांकित करने लगते हैं। यहाँ एक सहज पाठकीय प्रश्न उठता है कि इस समय को कहानी में क्यों नहीं खोजा जाता और अपने समकाल और भविष्य से ही इसे क्यों नहीं जोड़ा जाता? ‘हत्यारे’ कहानी में आज का समय मूर्तिमान है। इस समय को पहचानने-पहचनवाने और रेखांकित करने का काम आलोचक का है। पर रविभूषण और मार्तण्ड-दोनों ही काल को बाहर से लाकर ‘हत्यारे’ पर आरोपित करते हैं और उसके आधार पर कहानी की पहचान करना चाहते हैं। रविभूषण वैश्विक काल को उठा लाते हैं। मार्तण्ड भी कहानी में निरूपित काल को या समय की जिस कोख ने इस रचना को जन्म दिया है, उसे निरूपित नहीं कर पाते हैं। वह अपने ज्ञान का विभ्राट आडम्बर रचते हैं। ऐसा ही आडम्बर मार्तण्ड अपने ज्ञान का भी रचते हैं। रविभूषण इस कहानी को समझने के लिए विभिन्न पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के और उनकी पुस्तकों के नाम तक गिना देते हैं और आर्थिक नीतियों की चर्चा भी करते हैं। कहानी में केवल एक प्रधानमंत्री-प्रथम और तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल की साभिप्राय चर्चा है। पर रविभूषण अपने



देश के कई प्रधानमंत्रियों के नाम गिना जाते हैं- उसे वर्तमान प्रधानमंत्री मोदी तक खींच ले आते हैं। मार्तण्ड 'डिमिस्टिफिकेशन' जैसे पद की बात करते हैं। बकौल मुक्तिबोध साहित्य-कृति अपने-आप में एक फैंटेसी होती है। 'हत्यारे' भी एक 'फैंटेसी' हैं। इसका यथार्थ भी 'फैंटेसी' में व्यक्त-अव्यक्त है। पर मार्तण्ड इसे 'डिमिस्टिफाई' नहीं कर पाते। रविभूषण कहानी में दायें-बायें को पकड़ते हैं और उन्हें अंधा युग के दोनों प्रहरी याद आ जाते हैं। मार्तण्ड कहानी की आखिरी पंक्ति के 'अंधेरे' को पकड़ते हैं और उन्हें मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता याद आ जाती है। उन्हें सार्त्र की कहानी *Killer* की भी याद आती है। पर उसके कथा-पाठ को उदाहृत करके भी वह उसे इस कहानी का सार्थक अन्तर-पाठ (Inter-Text) नहीं बना पाते हैं। सूर्य के ये दोनों पर्याय (रविभूषण और मार्तण्ड) ही जब इस कहानी के अंधेरे को छँट कर उसके कथ्य को प्रकाशित नहीं कर पाते हैं, तब इनके सामने नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी और राजेन्द्र यादव की भला क्या बिसात रह जाती हैं और सुरेन्द्र चौधरी का 'स्वीपिंग रिमार्क' कि कहानी में हत्या नहीं की जानी चाहिए थी- कहानी के बीज कथ्य से ही उनके अपरिचय को सामने ले आता है। वह इस कहानी की रचना-प्रक्रिया को ही नहीं समझ पाते हैं। ऐसी गलत बयानी उनकी कहानी की समझ पर ही बड़ा प्रश्न-चिह्न बन जाती है। राजेन्द्र यादव के लिए 'हत्यारे' अस्तित्ववादी कहानी है और अमरकान्त अस्तित्ववादी कहानीकार है। राजेन्द्र यादव की यह उतनी ही बड़ी नासमझी है, जितनी बड़ी नासमझी कभी रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता को अस्तित्ववादी कविता कहकर प्रकट की थी। 'हत्यारे' में अपराध तो है, पर अपराध का राजनीतिकरण और राजनीति का अपराधीकरण नहीं है। चालू और पॉपुलर

शब्दों के प्रयोग का मोह किसी कहानी की समझ की कितनी बेरहम हत्या कर देता है इसका यह बहुत बड़ा दृष्टांत है। मार्तण्ड को फासीवाद 'पेटीबुर्जुआ' और लुम्पेन-सभी पद याद आ जाते हैं। पर इस कहानी में इन पदों को समझने से कहाँ क्या मदद मिलती है- इसे वह कहीं भी नहीं बता पाये हैं। श्रोता के सामने तो उनका सारा वाद-ज्ञान तो उभरता है, पर कहानी दब जाती है। वस्तुतः यह कहानी से दूर निजी ज्ञान का पाखंड और जनवाद का प्रपंच रचते हैं, कहानी की आलोचना नहीं करते हैं।

अपनी प्रतिबद्ध विचारधारा वाले इन आलोचकों में से किसी का भी ध्यान इस ओर नहीं जा सका कि इस कहानी में 'हत्यारे' कौन है? रविभूषण और मार्तण्ड कहानी में आये एक किताब के नाम को पकड़ लेते हैं- *The Grammar of Politics* (Harold Laski) पर उनका ध्यान नहीं जा पाता। कहानी में हत्या एक युवक-गोरा-करता है। दोनों हत्या नहीं करते। फिर इस कहानी का शीर्षक एकवचन में 'हत्यारा' क्यों नहीं है और बहुवचन में अमरकान्त के द्वारा 'हत्यारे' लिखने का क्या औचित्य है? क्या यह कहानी के पाठक को कुछ सोचने के लिए बाध्य नहीं करता?

'हत्यारे' कहानी के लिखे जाने का समय 1962 है, जिसे अन्तिम दो आलोचकों ने उसे नेहरू का अवसान-काल माना है। मार्तण्ड उसे मोहभंग का काल मानते हैं।

नेहरू का यह अवसान-काल तो अवश्य है, पर ऐसा कहने की जगह उससे बेहतर यह कहना होगा कि यह उनकी विफलता का काल है। इसके कई कारण हैं। अतः यह मोहभंग का काल नहीं है। मोहभंग 1967 के चुनाव के परिणामों से उजागर होने लगता है। हाँ, 1962 में पहली



बार राममनोहर लोहिया संसद में चुनकर आते हैं और वह संसद में अंग्रेज़ी में बोलते हुए जवाहर लाल और कांग्रेस को 'दो-जीभे' कहकर सम्बोधित करते हैं।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन (पूर्व राष्ट्रपति) के सुपुत्र गोपाल राधाकृष्णन ने यह लिखा है कि नेहरू अपने अंतिम दिनों में यह महसूस करने लगे थे कि एक अवांछित भारत (Wrong India) उभरने लगा है। इसका उन्हें खेद और दुःख भी था। 'हत्यारे' कहानी नेहरू के द्वारा महसूस किये गये इसी कालखंड में उभरने वाले अवांछित भारत (Wrong India) पर लिखी गयी कहानी है। यह तब का सन्दर्भ है, जिसमें यह कहानी अपनी सार्थकता प्राप्त करती है और भविष्य तक को आत्मसात् कर लेती है। नेहरू ने जिस 'रांग इंडिया' को उभरते हुए देखा था, अमरकान्त ने 'हत्यारे' कहानी में इसी को साकार कर दिया है। पर यह बड़े कलात्मक रूप में हुआ है। कहानी के पाठक के लिए इसे जानना और समझना बहुत जरूरी है, न कि यथार्थवाद को और न ही यथार्थवाद के अन्दरूनी धड़ों को यहाँ समझने की अपेक्षा है। इस प्रकार यह नेहरू के 'रांग इंडिया' वाले समय से अब तक उसी दिशा में लगातार बढ़ते चले आ रहे समय की अन्तर्कथा है। इस छोटी-सी अन्तर्भेदी दृष्टि और नेहरू की विफलता के पर्यवेक्षण के अभाव में 'आज का समय' को बाजारवाद पर आयी 1944 में छपी किताब में ढूँढना निरा हास्यास्पद लगता है। वस्तुतः 'रांग इंडिया' का उभरना अपने देश में एक पूरे-के-पूरे वर्ग का उभरना है, जो तब निस्त्राय नेहरू की चिन्ता का विषय बना था। पर 'इस रांग इंडिया' को उभरने देने वाले शासक नेहरू ही तो थे और उसका मार्ग प्रशस्त करने वाले भी स्वयं नेहरू ही थे। इसे नियंत्रित करना, रोक पाना जब नेहरू के वश का नहीं रहा, तभी

उन्होंने ऐसी अभिव्यक्ति की थी। अमरकान्त नेहरू को मानते थे। वह उन्हें सच्चा गांधीवादी भी समझते थे। यह उनकी निजी समझ थी। रवीन्द्र कालिया के अनुसार अमरकान्त को गांधी और नेहरू पसन्द थे। उनके शब्दों में अमरकान्त नेहरूवादी थे। पर अमरकान्त का यह भ्रम 1962 तक आते-आते ठीक वैसे ही टूटा, जैसे परवर्ती नेहरू काल में 1962 में दिनकर का भ्रम 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखते समय अपने लोकनायक से टूटा था।

अमरकान्त की कहानी 'हत्यारे' के दोनो पात्र इस 'रांग इंडिया' की कोख से पैदा हुए हैं। ये उस वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें कर्म-संस्कृति का कहीं लेश भी नहीं है। ये कामचोर और बातें बघाड़ने वाले सुख-भोगवादी हैं। इन्हें समाज, राजनीति, शिक्षा- सबका पल्लवग्राही ज्ञान है। व्यापकता तो उनमें है, पर उसकी केन्द्रीयता और गहनता का उनमें घोर अभाव है। पर उनकी आपसी बातचीत एक्सर्ड नहीं है। वह एक फैंटेसी तो है, पर इसमें समाज, राजनीति और शिक्षा से संदर्भित वह पूरा समकाल उजागर हो जाता है। इनमें स्वेच्छाचारिता है, लूट-मार करने और हत्या करने, देह-भोग तक कर आने की उच्छृंखल कर्महीन सुखोपभोगी प्रवृत्ति है। इसीलिए ये 'रांग इंडिया' वाले वर्ग के प्रतिनिधि हैं।

आजकल साहित्य के पीठाधीश जनवादी आलोचक अमरकान्त की 'हत्यारे' कहानी पर विचार करने के क्रम में उसकी 'डिप्टी कलक्टरी', 'दोपहर का भोजन', और 'जिन्दगी और जॉक' जैसी कहानियों का नाम लेते ही ऐसा नाक भौं सिकोड़ते हैं, मानों पाठक और साहित्य-चिन्तक अमरकान्त की कैसी पिछड़ी बीती कहानियों का उल्लेख कर रहे हैं और कहानी के ऐसे पाठकों को बहुत पिछड़ा हुआ कथा-पाठक मानने लग



जाते हैं। मुझे ऐसे पीठाधीशों के साहित्य-विवेक पर तरस आता है। जनवादी आलोचक साहित्य को प्रायः युग या काल-सापेक्ष मानते हैं, फिर भी इन तीनों कहानियों और 'हत्यारे' के लेखन-काल को ध्यान में नहीं रख पाते हैं। वह यह भी भूल जाते हैं कि किसी साहित्यकार या कहानीकार की एक रचना अथवा एक कहानी के आधार पर उसका मूल्यांकन कर देना कभी समीचीन नहीं है। बकौल मुक्तिबोध किसी भी साहित्यकार (या कहानीकार) का मूल्यांकन उसके समग्र साहित्य को पढ़ने के बाद ही किया जाना चाहिए, किन्हीं एक-दो कृतियों के आधार पर नहीं, अन्यथा वह मूल्यांकन सदैव अधूरा ही माना जाएगा।

'हत्यारे' कहानी सातवें दशक के आरंभ में (1962) में लिखी गयी थी। तब नामवर सिंह 'नयी कहानी' आन्दोलन में 'एक और शुरुआत' की बात कर रहे थे। उन्हें ज्ञानरंजन काशीनाथ सिंह और दूधनाथ सिंह ही दीख रहे थे। पर उन्हें एक और शुरुआत का सबसे अधिक सटीक साक्ष्य देने वाली यह कहानी (हत्यारे) और उसके लेखक अमरकान्त की ओर दृष्टि नहीं जा पा रही थी। 'डिप्टी कलक्टरी' और 'दोपहर का भोजन' मध्यवर्गीय परिवार की कहानियाँ हैं और 'जिन्दगी और जोंक' लोकमानस के बीच जिजीविषा-बोध की कहानी है। एक जनवादी आलोचक ने इस 'हत्यारे' कहानी को अमरकान्त की कहानियों में एक 'ब्रेक' माना है। पर यह कहानी अमरकान्त की कहानियों में एक ब्रेक नहीं होकर एक 'शिफ्ट-सी' लगती है। मूलतः यह 'शिफ्ट' भी नहीं रह जाती, बल्कि 'ग्रोथ' बन जाती है। कहना होगा कि यही कहानीकार के रूप में अमरकान्त की सफलता है।

रविभूषण जी ने जनवादी कथा-मंच से इस कहानी का विवेचन और मूल्यांकन करने का

प्रयास किया है। यह अच्छी बात है कि वह इस कहानी का अपना विवेचन कहानी के पाठ (Text) के आधार पर करते हुए चलते हैं। पर वास्तविक स्थिति पाठ (Text) की ऊपरी सतह से गुजर जाने की ही है। अतः कहानी का 'पारफ्रेज' करते हुए वह जगह-जगह पर जनवादी धारणाओं का दस्तावेजीकरण कर इस कहानी पर चस्पा करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि कहानी का पाठ इनसे छूट जाता है और उनकी विश्वदृष्टि उन पर हावी हो जाती है। पर मेरे लिए यह कोई विस्मय की बात नहीं है, क्योंकि ऐसा मुक्तिबोध से भी होता रहा है और मैनेजर पांडेय से भी। फर्क इतना ही है कि मुक्तिबोध और मैनेजर पांडेय को यह मुगालता नहीं होता है या उनका विवेचन ऐसा नहीं लगता है कि उनके द्वारा गृहीत रचना-विशेष को सिर्फ उन्होंने ही समझा है, औरो ने नहीं या कि उनके सिवा और सब नासमझ है- पर रविभूषण जी को यह प्रतीति अवश्य होती है।

'हत्यारे' पर मैं अपनी बात कुछ-सवालों से आरम्भ करना चाहता हूँ। आखिर इस कहानी में हत्यारे कौन हैं और हत्या किसकी होती है? जितना कहानी में सरसरी तौर पर पाठ में नजर आता है, इसका उत्तर उतना भर ही है, या यहाँ कुछ अन्तर्निहित भी है? अगर है, तो आलोचक उसकी बात क्यों नहीं करना चाहता है? रविभूषण जी की कठिनाई यह है कि वह पाठ को समग्रता में, उसके पूरेपन में देखना-समझना नहीं चाहते। जहाँ कहीं उन्हें कुछ संकेत-संकेतित नजर आता है वह उन्हीं स्थलों की बात करते हैं- 'हत्यारे' कहानी को छिटपुट सतही संकेतों से समझने और समझाने की कोशिश करते हैं यानी पूरा कथा-पाठ (Text) सशक्त रूप में उनकी समझ में नहीं आता है, क्योंकि वह उनसे छूट जाता है।



वह बायें और दायें की सांकेतिकता को पकड़ते हैं, वह 'इंडिविजुअल' को 'इंडिविजुअल' नहीं रहने देना चाहते हैं पर उसकी गहरी अर्थवत्ता को उसकी व्यक्तिपरकता में गोताखोरी कर नहीं तलाशना चाहते हैं। उसे वह तत्काल 'वर्ग' से जोड़ देते हैं। पर वह जिस वर्ग को कहानी में ढूँढ़ लेते हैं वह इस कथा-पाठ में उस रूप में है ही नहीं, जिस रूप में वह रविभूषण जी को काम्य है। रविभूषण जी यह नहीं देख पाते कि बायें और दायें को उनके द्वारा घूर कर देखा जाना'- यहाँ दोनों की उपेक्षा है, दोनों के विफल रह जाने की, उनके सार्थक सिद्ध नहीं हो पाने की स्थिति-दृष्टि है। वह 'दायें' और 'बायें'- दक्षिण और वाम- दोनों ही अनैतिक है, दोनों ही बेईमान है, दोनों ही भ्रष्टाचारी हैं। अतः दोनों ही से इन्हें घृणा है, नफरत है। वह न सत्तारूढ़ दल की ओर जाता है और न प्रतिपक्ष की ओर, न दक्षिणपंथियों की ओर जाता है और न वामपंथियों की ओर। वह तो अँधेरे में गुम हो जाता है। वह 'Wrong India' को सिरजने वाला एक तीसरा वर्ग बन जाता है, जिसके तथ्य को जानकर नेहरू चिंतित हो उठे थे। यह एक प्रकार का प्रतिसमाज है,। *Anty Society* है। यही 'Wrong India' को 'अवांछित भारत' को निर्मित करने वाला वर्ग है। कहानी का यह अंतिम अंधेरा वस्तुतः प्रति-समाज *Anti Society* का अँधेरा है। ये दोनों अपने इसी आश्रय और गम्य स्थान की ओर चले जाते हैं। क्योंकि यहाँ ये सुरक्षित हैं।

कहानी में गरीब तबके की, चूल्हे पर खाना बनाने वाली वह औरत जो अपने आर्थिक अभाव में अपने मर्द के रहते हुए भी अपनी देह बेचती है, वह 'इंडिविजुअल' नहीं है, तो वह समाज में उत्पन्न इस तरह के वर्ग को ही प्रतीकित करती है, उस व्यापक दलित-दमित शोषित वर्ग को संकेतित नहीं करती, जिसकी ओर रविभूषण जी का संकेत

है। रविभूषण जी की मुश्किल यह है कि जबतक कहानी के पाठ Text को अपने-आप में पूरी तरह खोल नहीं दिया जाए या समझ और समझा नहीं दिया जाए, तब तक अन्तर-पाठ Inter Text का उल्लेख कर देना भी उचित नहीं है। उसका पति अपने बाप के साथ वहीं बाहर बेफिक्र बैठा, भात खा रहा होता है। वह अगर इंडिविजुअल नहीं है तो आलोचक के अभीष्ट क्लास को भी प्रतिबिंबित नहीं करती, अपितु कहानी के साँचे में वह अपनी गुणात्मकता में कर्म-संस्कृति को प्रतीकित करती है। अब ऐसे में तन बेचने वाली इंडिविजुअल और कर्म-संस्कृति को संकेतित करने वाली बुधिया-दोनों समाज कैसे हो सकते हैं? इसी तरह बोध के अँधेरे में इस अंधेरे से कैसे और कितनी दूर तक सही साम्य बिठाया जा सकता है- इस ओर भी रविभूषण जी का ध्यान नहीं जा पाता। असल में इस कहानी में जो 'हत्यारा' दीखता है, वह वास्तव में हत्यारा है नहीं, हत्यारे तो वे हैं जिनका कहानी में कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है- पर इस ओर कहानी के पाठक का ध्यान नहीं जा पाता है। कहानी में जो प्रत्यक्ष 'हत्यारा' है उसके पहले इस कहानी में कितने हत्यारे हैं इसे तलाशने अन्वेषित करने की अपेक्षा है। कहानी में जो प्रकट तौर पर हत्या दिखाई जाती है- उसका कारण क्या है? यहाँ हत्या का पहला कारण है गरीब स्त्री से अपनी यौनेच्छा-पूर्ति कर उसे रुपये न देकर चार रुपये बचा लेने की प्रबल इच्छा, यानी लूट लेने की संकल्पित इच्छा। यहाँ जो उसे पकड़ने वाला आ रहा आदमी जब उसे पकड़ने ही वाला होता है, तभी उससे अपने रुपये बचाने और पकड़ जाने से बचने के लिए रोशनी में आते ही वह उसकी हत्या कर देता है। यहाँ 'हत्यारे' कहानी की तुलना रघुवीर सहाय की कविता 'रामदास आज मर गया' से भी कर दी जाती



है। पर उस कविता में मारे जाने के कारण का पता नहीं चलता। वहाँ कारण नहीं दिया गया है। पर इस कहानी में मारे जाने का कारण सुस्पष्ट है। इसमें वह कहानी में प्रकट है। पर जो हत्या होती है वह लूट कर और एक तरह से रेप कर भागने वाले की पकड़ से बचने के लिए होती है। पर ऐसी अनेक हत्याएँ यहाँ अंतर्गर्भित हैं। इन्हें देखे जाने और दिखाने की जरूरत है। रामदास के मरने के अन्तर-पाठ के उल्लेख से अन्तर्गर्भित हत्याएँ नहीं उकेरी जा सकती हैं।

कहानी में दोनों पात्रों के रंग का भी उल्लेख है- एक गोरा है, तो दूसरा गहरे साँवले रंग का है। यहाँ दक्षिणपंथी और वामपंथी- दोनों ही ‘रांग इंडिया’ को सिरजने, उत्पन्न करने वाले हैं। ये कहानी में अपनी-अपनी भागीदारी निभाते हैं। कहानी में मजे का ऐसा हर प्रसंग इन दोनों ही- दक्षिणपंथी और वामपंथी- से जुड़ा हुआ है।

‘हत्यारे’ कहानी में शिक्षा का परिवेश अग्र प्रस्तुत है। यह कहानी के बीज-सूत्र को विकसित होने के बाद आता है। इस शैक्षणिक परिवेश में प्रोफेसर है और शोधार्थी, विद्यार्थी भी हैं। कहानी के दोनों पात्र भी एम.ए. उत्तरार्ध के विद्यार्थी प्रतीत होते हैं। इनके तत्कालीन शैक्षणिक परिवेश का यह एक उदहारण-मात्र है। पर यहाँ दोनों की तत्कालीनता में, राजनीति में समाज में अभियांत्रिकी के क्षेत्र में, चिकित्सा के क्षेत्र में, प्रशासन के क्षेत्र में, नेताओं और मंत्रालयों की रूटीनी कर्मचर्या में- सब-कहीं ऐसी ही स्थिति है। कहानी न होकर यदि यह उपन्यास के रूप में लिखा जाता, तो इन सारे क्षेत्रों से भी ऐसी सारी स्थितियाँ उजागर कर दिखा दी जाती। पर यहाँ एक क्षेत्र के घोर पतन को उद्घाटित कर अन्य क्षेत्रों की ओर सहज ही संकेत कर दिया गया है, जिसका भान पूरी कहानी पढ़ लेने के साथ हो जाता है।

रविभूषण जी इस कहानी का विवेचन करते हुए एकाधिक बार यह बताते हैं कि इस कहानी का हर वाक्य कसा हुआ है। मुझे थोड़ा विस्मय होता है कि भाषा को महत्वहीन मानने वाले जनवादियों को भूलकर यहाँ आलोचक का ध्यान वाक्य की ओर आखिर क्यों गया है? दरअसल जिसे वह बताना चाहते हैं, वह वाक्य नहीं है बल्कि पूरी कहानी का डिस्कोर्स है। कहानी का कथन-विधान है। वहाँ वाक्यों की आपसी संसक्ति से यह कथन बनता है, उक्ति या प्रोक्ति बनती है। कहानी केवल अपेक्षित को कह कर ही बुनी गयी है, जहाँ कथन परस्पर पूरी तरह कंडेंस्ड हैं सुसंहत हैं। कहानी में ऊपर से जो विसंगत या एब्सर्ड है, उसके भीतर इनका यथार्थ भरा पड़ा है। वह कहानीकार का विशिष्ट कौशल है। उसने ‘फेला’ को ‘सुजेत’ में बदल दिया है।

यथार्थ-संख्या एक को यथार्थ-संख्या दो में रूपांतरित कर दिया है। यह कसावट कहानीकार की इसी कला का द्योतक है। इस कहानी में वह औरत, जो देखने में ‘बुरी भी नहीं’ थी, जब गोरे-साँवले युवकों में से गोरे से यह कहती है कि “मुझे तो आपकी बात समझ में नहीं आती”, तब उसका यह कथन अपना अर्थ-विस्तार करता हुआ पूरी कहानी पर छा जाता है। इस कहानी के नामी-गिरामी आलोचकों को भी गोरे और साँवले की बातचीत समझ में नहीं आ पाती है। फर्क इतना ही है कि वह सीधी-सादी सरल दीखने वाली औरत खुले दिल से इसे स्वीकार कर लेती है। पर कहानी के आलोचक इस कहानी के वार्तालाप को आदि से अन्त तक पढ़-सुनकर भी इसे न तो समझ पाते हैं और न इसको वे स्वीकारना ही चाहते हैं। यहाँ वे ऐसी-ऐसी टिप्पणियाँ करने लग जाते हैं, मानो उनसे अधिक इस कहानी को समझने वाला और कोई है ही



नहीं। दूसरी ओर जब उन्नत और पुष्ट उरोज' वाली वह औरत अपना देह-व्यापार कर लेने के बाद गोरे से अपनी कमाई के रुपये देने की बात करते हुए मोल-तोल करती है और सामान्य रकम से दोगुनी रकम- दो-दो रुपयों की जगह आज चार-चार रुपये लेने की बात करती है तब वह केवल आठ-आठ आने और देने की बात कर उसके डिमांड पर ताला लगा देता है और दस रुपये का नोट भुनाने के बहाने पास की चाय की दूकान की ओर चला जाता है और वहाँ पहुँचते ही दोनों अपने-अपने जूते अपने-अपने हाथों में लेकर अरबी घोड़ों की तरह भाग खड़े होते हैं-

“तब उस औरत को शायद गोरे की बात समझ में आती है और वह अपनी छाती पीट-पीट कर विलाप करने लगती है- अरे लूट लिया रे, हरामी बच्चों ने। उन पर बज्जर गिरे”- तब कहानी के पाठकों को यह बात समझ में आने लग जाती है कि इस देश की जनता बार-बार उस औरत की तरह क्यों लूट ली जाती है, अपने आशवासनों के बावजूद आज़ाद देश के लूटेरों से? वह गोरे और साँवले- पूँजीपतियों और वामपथियों- दोनों के द्वारा लूट ली जाती है और जो कोई इस लूट से उसे बचाने आगे आता है, उसकी हत्या कर दी जाती है। इसीलिए यह गोपन देह-व्यापार करने वाली औरत के लूट लिये जाने की कहानी-मात्र नहीं है, बल्कि देश की जनता को भी इसी तरह, वोट का उपयोग करने और जनता को लूटने वाले गोरे-काले की कहानी भी है। यहाँ प्रतिरोध करने के लिए आगे बढ़ने की हिम्मत दिखाने वालों की निर्मम हत्या कर दी जाती है। इस तरह कहानी बहुत दूर तक अपनी इस अर्थ-गूँज को मुखर कर जाती है।

इस कहानी को पढ़ने के साथ ही मेरे मन में सहसा जो प्रश्न उठा था कि इस कहानी में वास्तव में ये ‘हत्यारे’ कौन हैं, यह प्रश्न अपना

उत्तर माँगता है। क्या केवल गोरा ही, जैसा इस कहानी की पृष्ठभूमि में लगता है, हत्यारा है? काला न तो हत्यारा है और न ही हत्या की साजिश में शरीक ही है। यह तो अचानक की गयी हत्या है, जिसके लिए गोरे में उसकी मानसिकता पहले से बनी हुई है। जब मैंने यह सोचना और कहानी में झाँकना शुरू किया कि आखिर ये हत्यारे कौन लोग हैं और ये हत्या किसकी करते हैं, तो उत्तर अपने-आप मिलने लगे कि आखिर आज़ाद भारत में हत्यारा कौन नहीं हैं? सूची लम्बी होती गयी- नेतागण मंत्री, प्रशासक, शिक्षाविद् अध्यापक, अभियन्ता, तथाकथित समाजसेवी आदि-आदि। प्रश्न यह भी कि हत्या किस-किस की नहीं होती है? हत्या तो हो चुकी है- नैतिकता की, ईमानदारी की, भाईचारे की, मानवता की इंसानियत की और कुल मिलाकर देश के ‘लोकतंत्र’ की। आखिर इसका कारण क्या है? तो इसके मूल में एकमात्र कारण ‘अर्थ’ है ‘मनी’ है, स्रप्या है। इसको लूटने-खसोटने, घोटाला करने, ग्रेविंग करने, समांतर कालाधन का विस्तार करने, मुद्रा-व्यापार का समांतर संसार खड़ा करने और अपना-अपना घर भरने के लिए दिन-दिहाड़े की जाने वाली हत्याएँ हैं यहाँ। इसीलिए यह भारत के पूरे लोकतंत्र की हत्या है। हम ‘फाउल डेमोक्रेसी’ से अराजक (Anarchic Democracy) में जी रहे हैं। यह फेज़ लोकतंत्र की हत्या के बाद का फेज़ है। यहाँ अनुशासन, आत्मानुशासन कर्म-संस्कृति सबकी हत्या हो चुकी है। इसीलिए यहाँ हत्यारे और हत्या के कारण का अर्थ-विस्तार दिखाई पड़ता है।

‘हत्यारे’ कहानी के दोनों पात्र- गोरे और साँवले- शिक्षित वर्ग से आते हैं। इनकी बातचीत सुनने में असंगत-विसंगत या एब्सर्ड लगती है। ‘अविश्वसनीयता’ इसकी विशेषता है। भाषा



व्यवहार शास्त्रीय (Pragmatic) चिन्तक ग्राइस (Grice) ने अपने विवक्षा-सिद्धांत (Grice) में गुण-सूत्र (Theory of Implicature) के खंडन की बात की है। गोरे और साँवले की आरंभिक बातचीत में कहीं भी विश्वसनीयता नहीं है। उसे न तो सत्यापित (Maximum of Quality) किया जा सकता है और न उसे सत्य माना जा सकता है। पर इनका वार्तालाप अपने-आप में गूढ़ार्थ को छिपाए हुए है। गोरा साँवले से कहता है- “यही नेहरू है, यार! आज उसका एक और पत्र मिला है। हाँ, डियर यह आदमी मुझको परेशान कर रहा है। मैंने बार-बार कहा कि भाई मेरे भारत की प्राइम-मिनिस्ट्री किसी दूसरे व्यक्ति को दे दो। मेरे पास बड़े-बड़े काम हैं। लेकिन मानता ही नहीं। वही पुराना राग। इस बार लिखा है- अब मैं थक गया हूँ। गाँधी जी देश का जो भार मुझे सौंप गये उसको मैं आपके मजबूत कंधों पर रखना चाहता हूँ। इस अभागे देश में आज आपसे काबिल और समझदार दूसरा कोई भी नहीं है। नेहरू देश के सभी नेताओं को निकम्मा और बातूनी समझता है। तुमको तो मालूम है कि लास्ट टाइम मैं जब दिल्ली गया था तो नेहरू ने अशोक होटल में आकर मुझसे मुलाकात की थी.... नेहरू हाथ पकड़ कर रोने लगा। बोला- आज देश भारी संकट से गुजर रहा है। सभी नेता और मंत्री बेईमान और संकीर्ण विचारों के हैं। जो ईमानदार हैं, उसके पास अपना दिमाग नहीं है। मेरी लीडरशिप भी कमजोर है। मेरे अफसर मुझ को धोखा देते हैं। जनता की भलाई के लिए मैंने पांचसाला योजनाएँ शुरू कीं, लेकिन ब्लौकों के सरकारी कर्मचारी अपने घरों को भरने में लगे हैं। मैं जानता हूँ कि सारे देश में कुछ लोग लूट-खसोट मचाये हुए हैं, लेकिन मैं उनके खिलाफ कोई कारवाई नहीं कर सकता। देश को

आज केवल आपका ही सहारा है। आप ही पूँजीपतियों, मंत्रियों और अफसरों के षड्यंत्र को खत्म करके समाजवाद कायम कर सकते हैं।” यह सारा वाक्या सुनकर साँवला गोरे से पूछता है- तब तुम क्या सोच रहे हो? गोरा बताता है- ऐसे छोटे-मोटे काम माबदौलत नहीं करते। पर जब साँवला उससे थोड़ा झुकने के लिए कहता है तब गोरा जवाब देता है- नहीं बे, मैं सिद्धांत का आदमी हूँ। नेहरू को ट्रंक काल करके आ रहा हूँ। इसीलिए तो देर हुई। हाँ, मैंने साफ-साफ कह दिया कि देश की प्राइम मिनिस्ट्री मुझे मंजूर नहीं। मेरे सामने बहुत बड़े-बड़े सवाल हैं। सबसे पहले तो मुझे विश्वशान्ति स्थापित करनी है।” यहाँ कथाकार के द्वारा कहानी में लाया गया गोरे और नेहरू की बातचीत का सन्दर्भ कोई दिवास्वप्न नहीं है। यह कोई स्वैरकल्पना या समाज-राजनीतिक फंतासी भी नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा कथा-शिल्प है, जो (Out to be) को घटित (Happened) के रूप में उजागर कर देता है। यानी यही सही समय था जब नेहरू को प्रधानमंत्रित्व से त्यागपत्र दे देना चाहिए था। उनके प्रधानमंत्रित्व काल में 1962 में ही देश चीन से हुए युद्ध में हार गया था। यही नहीं, अपने देश की काम्य अभीष्ट लोकतांत्रिक व्यवस्था दम तोड़ चुकी थी और वह आलोकतांत्रिकता की ओर मुड़ गयी थी। एक 'Wrong India' उभर कर आ खड़ा हुआ था। देश एक ऐसे मोड़ पर आगे बढ़ पड़ा था, जहाँ गलत भारत का प्रतिनिधि बन कर एक अवांछित वर्ग उभर कर सामने आ चुका था। कहानी के दोनों पात्र इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। राजनीति का अपराधीकरण धुआँधार बढ़ चुका था। नेताओं और मंत्रियों में बेईमानी और विचारों की संकीर्णता जड़ बना चुकी थी। सारे देश में लूट-खसोट का बाजार गर्म था।



अफसर धोखेबाज थे। वे षड्यंत्रकारी हो चुके थे। वे अपना-अपना घर भरने में दिन-रात लगे हुए थे। आजादी के केवल पन्द्रह वर्षों के भीतर गाँधी के रामराज्य को स्थापित करने का उद्देश्य लेकर चलने वाला लोकतंत्र नष्ट हो चुका था। नेहरू इसी 'रांग इंडिया' वाले वर्ग के दो युवकों में से एक को अपना प्रधानमंत्रित्व सौंपना चाहते थे। यानी वह रांग इंडिया से बाहर नहीं निकल पाये थे। इस करुणापूर्ण विलाप करने वाली स्थिति में प्रधानमंत्री का ताज और अपने परिवार के अतिरिक्त किसी और के सिर पर रखना नहीं चाहते थे।

नेहरू के बाद शास्त्री, शास्त्री के बाद इन्दिरा और इंदिरा के बाद राजीव- इसी नामितीकरण के उदाहरण और प्रमाण हैं। इस बिन्दु तक आत-आते भारतीय लोकतंत्र की हत्या हो चुकी होती है। लूट-खसोट कर अपना-अपना घर भरने वाले नेता, मंत्री, अफसर भारतीय लोकतंत्र के हत्यारे सिद्ध होते हैं। उन्होंने पंचशील के कबूतर उड़ाये थे, हिन्दी-चीनी भाई-भाई का नारा लगाया था। लोकतंत्र की हत्या का एक बड़ा कारण नेहरू स्वयं भी हैं, जिन्होंने लोकतंत्र को कर्म-संस्कृति को सही दिशा में नेतृत्व या नायकत्व नहीं किया और वह निरन्तर अंग्रेजी सभ्यता और अंग्रेजियत की राजतंत्रीय मानसिकता में डूबे रहे। उनकी इस विफलता के मूल में उनकी विश्वशान्ति की ललक और देश से अधिक विदेश के प्रति सम्मोहन, आकर्षण और निजी महत्वाकांक्षा की अधिमानता के आगे देश में घट रही घटनाओं के प्रति और कर्तव्य-परायणता के प्रति उनकी निष्क्रिय विमुखता भी एक बड़ा कारण बनी। वह लोकतंत्र में लगे रोग को तो पहचान गये थे। पर न तो उससे वह बचाव कर सकते थे और न ही उसका सही निदान दे सकते थे।

कहानी में नेहरू गोरा से कहते हैं कि मैं किसी गांधीवादी के मजबूत कंधों पर प्राइममिनिस्ट्री का दायित्व देना चाहता हूँ और तुम्हीं मेरी दृष्टि में इसके लिए सर्वाधिक योग्य हो। अतः तुम इस दायित्व को स्वीकार कर लो। पर यहाँ भी नेतृत्व 'रांग इंडिया' का दिया जा रहा है। वास्तव में नेहरू को अपनी विफलता में उसी समय किसी ऐसे योग्य व्यक्ति को अपने सामने ही प्रधानमंत्री बनाने की त्यागमयी प्रक्रिया पूरी करनी चाहिए थी। यहाँ कहानी में जो कथित है, वह वास्तविकता में अकथित है। ऐसा नहीं हो पाया।

गोरे और नेहरू के इस बातचीत के समांतर साँवला अमेरिका के प्रेजिडेंट केनेडी के द्वारा उनकी प्रेजिडेंटशिप के सौंपे जाने की बात करता है। पर वह भी इसके लिए तैयार नहीं हो पाता है। पर यहाँ केनेडी की बातचीत से इतना तो उद्घाटित हो ही जाता है कि अमेरिका भावी विश्व युद्ध की स्थिति में रूस पर विजय प्राप्त करना चाहता है और इसके लिए वह भारत का उपयोग या इस्तेमाल करना चाहता है।

अवांछित भारत 'Wrong India' के ये दोनों गोरे और साँवले पात्र और इनकी मनोवृत्ति जिस शैक्षणिक परिवेश की उपज हैं, कहानीकार इस पर भी प्रकाश डालता है और यह भी इन दोनों पात्रों की बातचीत के व्याज से ही। पर यहाँ शिक्षा की जिस पतित निकृष्ट स्थिति को उद्घाटित किया गया है, वह तो 'अवांछित भारत' का एक अनुभाग मात्र है। यहाँ ऐसे अनगिनत क्षेत्रों और अनुभागों की ओर संकेत जाता है- वे क्षेत्र राजनेताओं, प्रशासनिक अधिकारियों, सचिवालयों, अभियंताओं, चिकित्सकों, समाज, राजनीति, अर्थतंत्र- सभी क्षेत्रों की ऐसी ही भ्रष्टता, बेईमानी और घूसखोरी की घृण्य स्थितियाँ संकेतित होती हैं। नेहरू जिस 'अवांछित भारत' को देखकर



निराशा से भर उठे थे, उस अवांछित भारत को जन्म देने और उसे विकसित करने में स्वयं नेहरू का ही योगदान रहा था। पर समय रहते उन्हें इसका बोध नहीं हो पाया। गोरे के सामने नेहरू के रो उठने का यही कारण है। राममनोहर लोहिया याद आते हैं। उन्होंने चरित्र निर्माण की बात कही थी। भारत में नेहरू से अब तक इस दिशाहीन चरित्र का तो क्षरण और लोप होता चला गया है। नेहरू में स्वयं के लिए तो कर्म-संस्कृति थी। पर यह कर्म-संस्कृति और अनुशासनात्मकता न तो वह अपने मंत्रियों, सांसदों और नागरिकों को दे सके, जिसके बल पर लोकतंत्र उन्नत हो सका होता। दूसरे, उन्हें देश की, अपने मंत्रालय की वास्तविकता का ज्ञान नहीं था। उनमें उद्देश्य को चरितार्थ और प्रतिपादित करने वाली कर्म-संकल्पता नहीं थी। लोहिया ने 1962 में उनके उस कथन की याद अपने श्रोताओं को करायी थी जहाँ उन्होंने अपनी पलटन (सेना) से कहा था कि चीनीयों को बार्डर से भगा दो, उन्हें खदेड़ दो। पर क्या इसके लिए इस दिशा में उन्होंने कर्मनिष्ठता दिखाई थी? केवल फाइलों को डिस्पोज-ऑफ करने में सच्ची कर्म-निष्ठता नहीं होती, वह उन सारे दायित्वों के प्रति होती है, जिनकी ओर न उनमें दिशा-बोध था और न ही अपेक्षा को साकार करने की, सारी तैयारी को समय से मुकम्मल करने का कभी कोई प्रयास ही किया गया था और न ही ऐसा कोई उद्यम था। सरकार का हर उद्यम घाटे का सौदा बनने लगा था। लोग उससे अपना-अपना घर भरने लगे थे। मूल समस्या कामचोरी, बेईमानी, रिश्वतखोरी, समांतर आर्थिक सरकार चलाने और राजनीति का अपराधीकरण करने- माफियागिरी पैदा हो जाने की थी। नेहरू लोगों को अपना जीवन-स्तर ऊँचा करने की बात करते थे और जो ऐसा

करता था, उसे देखकर वह प्रसन्न होते थे। पर यह सब-कुछ होता कैसे था, उस ओर उनकी दृष्टि नहीं जा पाती थी। इन्हीं सबने 'अवांछित भारत' 'Wrong India' को जन्म दिया था। कहानी के दोनों गोरे और साँवले पात्र- इसी अवांछित भारत का आत्मिक और बाह्य निरूपण करते हैं। वे मुफ्तखोरी, ऐश-मज़े करने वाले, लूट-खसोट करने वाले, गरीब नारियों का यौन-शोषण करने वाले छात्र नागरिक हैं। उनके कथनों पर आप ध्यान देंगे तो पता चलेगा कि ये रचनात्मक कार्य करने चल पड़े हैं। उनमें गोरा कहता है- "आज समय आ गया है कि हमारे युवक बुद्धिमानी, मौलिकता, साहस और कर्मठता का परिचय दें। मैं पूर्ण अहिंसात्मक तरीके से उनका पथ-प्रदर्शन करना चाहता हूँ।" काला इससे आगे बढ़कर कहता है कि आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति करने का समय आ गया है।" वे दोनों मजे करते हैं नारी का देह भोगकर उसे स्पृशे न देकर झांस पट्टी देकर भाग खड़े होते हैं। इधर इन्हें पकड़ने के लिए जो युवक दौड़कर इनका पीछा करते हैं, उनमें से एक को अब अपने बहुत निकट पाकर कि कहीं वह साँवले को पकड़ न ले, वह उसको छुरा मार देता है। उसकी तत्काल हत्या हो जाती है। नैतिकता शर्मसार हो उठती है। इस कहानी में एक नहीं ऐसी अनेक हत्यारें अन्तर्गर्भित है। इसी अवांछित भारत के कारण नेहरू अपनी प्राइममिनिस्ट्री छोड़ना चाहते हैं। पर क्या सचमुच ऐसा था। यहाँ मंत्री हत्यारे हैं। अफसर हत्यारे हैं, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर- सभी हत्यारे हैं। प्रोफेसर ने शिक्षा को अपने जीवन का केन्द्र नहीं बनाकर काम और 'काला धन' (ब्लैकमनी) के लिए शिक्षा को इसका माध्यम बना रखा है। यह अपने छात्रों से किताबें लिखवाता है और उसे अपने नाम से छापता है। जिस छात्रा पर उसकी



नजर पड़ती है, उसे यह अपने जाल में फँसा कर हड़प लेना चाहता है। हत्यारे में नैतिकता की हत्या होती है। इस कहानी में विभिन्न क्षेत्रों में लोकतंत्र की हत्या के कारण अवांछित भारत ही शेष रह जाता है। लोकतंत्र की हत्या कर दिये जाने के बाद आखिर शेष क्या बचता है? बचता है छोटे-छोटे राजतंत्रीय सामन्ती केन्द्र, स्वार्थ से प्रमत्त अधिकारों के शोषक केन्द्र। खुदगर्ज अराजक भीड़तंत्र। इसीलिए गोरे और साँवले दोनों लोकतंत्रविहीन अंधेरे में खो जाते हैं।

अमरकान्त का पहला कहानी-संग्रह 'समकाल की कहानियाँ' नाम से 1958 ई. में इलाहाबाद के 2, मिंटो रोड, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। इसमें उनकी पहली कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' है और अंतिम कहानी 'जिन्दगी और जोंक' है। जिस लोकतंत्र में हमारे नवयुवक लुटेरे और हत्यारे हो, जाते हैं इनका भविष्य क्या होगा? वह अंधकार से भरा नहीं होगा, तो भला और क्या होगा? इस युग में आरंभ में ही राजनीतिक अपराधीकरण हो चुका था। पर अब तो समाज का भी अपराधीकरण हो चुका है और अब यह अपराध केवल अवांछित भारत निर्मित करने वाले वर्ग तक सीमित नहीं रहा है। लोकतंत्र की हत्या के बाद अब केवल अराजक तंत्र शेष रह गया है।

अमरकान्त गांधीवादी थे, वह नेहरू को बेहद पसन्द करते थे। पर 1962 तक आते-आते नेहरू के प्रति उनका मोहभंग हो चुका था। लोकतंत्र की लूट-खसोट और हत्या से उत्पन्न भयावह स्थिति उनकी आँखों के सामने थी। अवांछित भारत का नग्न दृश्य केवल उनकी आँखों के सामने नहीं था, बल्कि उनके मन-मस्तिष्क में छाया हुआ था। उनकी लेखनी ने इसकी बहुत साभिप्राय अभिव्यक्ति हुई है। अमरकान्त को पता था कि कहानी में कितना

कहना जायज है और इसकी हद को तोड़ देना नाजायज है। उनकी अपनी इस कहानी में कथ्य कसा हुआ है, वह नाभिकेन्द्रिक है। इसके लिए उन्होंने अपनी अद्भुत भाषा-क्षमता का प्रमाण उपस्थित कर दिखाया है। भाषा-व्यवहार का इतना कुशल व्यवहार या कहूँ कि भाषा-व्यवहार के व्याकरण का इतना वर्गगत सार्थक और सटीक उपयोग हिन्दी कहानी में - 1962 से 2022 तक देखने को और कहीं नहीं मिल पाता है।

1962 में कहानीकार ने जिस अवांछित भारत की दिशा और सूरत हमें दिखा दी थी, आज का भारत इक्कीसवीं सदी से आगे सारे बंधन तोड़कर आगे निकल चुका है। अब केवल इस सर्वव्यापी पतन का जिम्मेदार हत्यारा वह युवा-वर्ग नहीं रह गया है, बल्कि अपने-अपने स्तर और स्तुतियों में परे उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम साथ ही मध्यम और निम्न से निम्न वर्ग तक इसकी सक्रिया परिव्याप्त हो चुकी है।

अमरकान्त की इस कहानी को समाप्त करने और कहानी के विषय में सोचते-न-सोचते मुझे उस दिन 1971 के जून में देखा गया अमरकान्त का वह चेहरा याद आ जाता है जब मैं भागलपुर विश्वविद्यालय (आर.डी.एंड.डी.जे. कॉलेज) के अपने विद्यार्थियों को उनसे मिलाने और उनसे मिलने के लिए उनके घर इलाहाबाद पहुँचा था। वहाँ कोई ड्राइंगरूम नहीं था, जैसा राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर के यहाँ हुआ करता था। अमरकान्त एक चौकी पर लेटे हुए थे। तख्त पर चारखाने की आसमानी और पीले चितकबरे रंग की चादर बिछी हुई थी। सिरहाने तकिया व्यवस्थित था। मेरे उस कमरे में प्रवेश करते-न-करते वह उठकर बैठ चुके थे- जिसे मैंने अपनी आँखों देखा था। कमरे में एक



या दो कुर्सी थी। उन्होंने मौखिक रूप में और हथेलियों को जोड़कर नमस्कार करते हुए मेरे नमन का उत्तर दिया था। साथ ही हाथ के संकेत से मुझे कुर्सी पर बैठ जाने के लिए कहा था। मैंने अपने विद्यार्थियों को हाथ के संकेत से नीचे फर्श पर बैठ जाने का आग्रह किया था। वे सभी नमस्कार कर अपना-अपना नाम और अपनी-अपनी कक्षा का उल्लेख करते हुए वहाँ बैठ गये थे। इनमें सबने उनकी एकमात्र कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' पढ़ रखी थी।

उस दिन वह मुझे नितात्त संकोची व्यक्ति लगे थे। पर उनकी आँखें पर्यवेक्षण-शक्ति से भरी पूरी थीं। मैं उनके घर पर पंत, महादेवी जैसे प्रतिष्ठित साहित्यकारों से मिलने के बाद पहुँचा था। इन दिनों अमरकान्त नयी कहानी

आन्दोलन में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। समाज-राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि वह प्रलेस के सदस्य थे, पर साहित्यकार के रूप में इनका

लेखन उनकी अंतर्दृष्टि का प्रतिफलन था। मैंने उन्हें बताया था कि मैंने अभी-अभी इसी वर्ष नयी कहानी के विविध प्रयोग विषय पर शोधकार्य सम्पन्न कर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। इसमें उनकी तीन कहानियाँ- डिप्टी कलक्टरी, दोपहर का भोजन और जिन्दगी और जोंक पर मैंने विचार किया है। हमारे विद्यार्थियों को उन्होंने बताया कि उन्होंने आरंभ में लोकगीत गाये हैं और सक्रिय तौर पर पत्रकारिता से भी जुड़े रहे हैं। आज मैं उनके दैहिक व्यक्तित्व, जो परमात्मा की सृष्टि थी, को याद करता हूँ और उनकी अपनी अर्जित दृष्टि से संभदित 'हत्यारे' जैसी सृष्टि का मूल्यांकन करना चाहता हूँ, तो आज भारत जैसे तथाकथित लोकतंत्र का हर नागरिक अहिंसा की पोशाक पहने प्रगुणात्मक तौर पर हत्यारा ही प्रतीत होने लगता है। अमरकान्त हत्यारों में वह सब-कुछ बता जाते हैं, जो उस समय होना चाहिए था, पर नहीं हो सका।

**संपर्क :** पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', 'साईकृपा' 58, लाल एवेन्यू, डाकघ- छेहटा, अमृतसर, पिन-143105 (पंजाब), मो. 09878647468



## सृजनात्मक साहित्य की अनवांशिकी : सन्दर्भ चन्द्रकिशोर जायसवाल की कहानियाँ

धनेशदत्त पाण्डेय

ब्रिटिश-अमेरिकन कवि डब्ल्यू. एच. औडेन का मानना है कि, "Man is a history making creature for whom the future is always open, human nature is a nature continually in quest of itself, obliged at every moment to transcend what it was a moment before, for man the present is not rest but valuable. He can neither repeat the past exactly, every moment is unique -nor leave it behind, at every moment he adds and thereby modifies all that presently happened to them"

उपरोक्त उक्ति को रचनाकारों के निर्मित पात्रों को असली जीवन के पात्रों के बरक्स खड़ा करने के अपने इस अभियोजन को मैंने अनायास नहीं, सयास चुना है, क्योंकि कथा पात्रों की निर्मिति के कर्म का यह शोधित कर्म-काण्ड है।

आज हम विशुद्ध जनतांत्रिक युग के जीवंत प्राणी हैं, अतः हमारी अपेक्षाएं दुर्बोधता के बाड़े को तोड़कर सहजता और सरलता की असीमता में विचरना चाहती है, जो है, जैसा है, बस वैसा ही दिखे, वैसा ही रचे, वैसा ही आत्मसात भी हों। प्रेमचंद में सहजता थी, सरलता भी, परन्तु उनकी रचनाओं का सत्य समाज के सम्पूर्ण सहअस्तित्व का सत्य नहीं था। सामाजिक संबंधों को उन्होंने वहिर्गत संबंधों में आँका और अपने पात्रों को इस तरह खड़ा किया कि वे हमेशा अलग-अलग टीले-टकड़ों पर नथूने फुलाए दिखे, 'गोदान' में भी। उनके समकालीन जैनेन्द्र या अज्ञेय ने भी अपने पात्र चुने तो अपने समय के समाज से ही, परन्तु वे पात्र भी व्यक्ति-विशेष में चिह्नित हुए, समष्टि हो जाने की उदारता नहीं दिखाई। कारण, उन्होंने समाज के चित्रण से ज्यादा महत्त्व अपने रचना वैशिष्ट्य को लहकाने को दिया। मानव-पक्ष को व्याख्यायित करने में प्रेमचंद विस्तारवादी रहे, तो अज्ञेय और जैनेन्द्र संकेतवादी, जरूरत से कुछ ज्यादा ही। आगे के रचनाकारों ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के लिए जैनेन्द्र और अज्ञेय की परम्परा के विकास वाले सूत्र को पलटकर परम्परा के विरोध की तकनीक अपनायी, फलतः उनके पात्र ज्यादा ही एकान्तिक, विद्रोही, और अंतर्मुखी हो गए, जो समाज के परिस्थितिक स्वस्व, सच्चाई और अंतर्वेदना के रिपोर्टर तो बने, परन्तु कहानी कह कर के व्यक्ति की संवेदना का प्राणघाती उत्प्रेरक नहीं बन सके। अपने विगत विमर्श में, (जो 'लहक' के वार्षिक अंक में प्रकाशित हुआ है), इस परिणाम को ही चिह्नित करके मैंने यह प्रमेय स्थापित करने की कोशिश की है कि सृजनात्मक लेखन के क्षेत्र में पूर्व-स्थापना का



विकास या प्रक्षेप तो संभव है, इसकी कोई सुव्यवस्था परम्परा नहीं हो सकती। तो, हुआ यह कि पात्रों के प्राकृतिक प्रसव के लिए वेदनादायी जनन-प्रक्रिया से हटकर एक सुखदायी आपरेशनल तरीका अपनाया गया जिसमें कि 'इथर' का इतने मात्रा में प्रयोग हुआ कि जच्चा को संतान-विमोचन का सुख तो मिला, बेचारा बच्चा ही अस्वस्थ होकर रह गया! यानी, कहानी 'नयी' होकर 'प्रगतिशील' तो क्या होती, 'अकहानी' होकर रह गयी। रेणु ने अपनी कहानी 'एक अकहानी का सुपात्र' में इस स्थिति की बड़ी ही मार्मिक व्याख्या की है, 'पिछले कई वर्षों से लगातार यह सुनते-सुनते कि अब 'कहानी' नाम की कोई चीज दुनिया में ऐसे नहीं रह गयी है' मुझे विश्वास' सा हो चला है कि कहानी सच-मुच मर गयी। हमारा मौजूदा समाज कहानी हीन; हो गया है, हटात। कहीं, किसी घर के किसी कोने में कहानी घट नहीं रही। सभी लोग, अकहानीमय जीवन बिना किसी परेशानी या दुःख के जिए जा रहे हैं। फलतः, समाज के सभी कहानीकार बेकार हो रहे हैं, हुए जा रहे हैं। मैंने इन तथ्यों के आधार पर अकहानी की एक मोटी-सी परिभाषा समझ ली थी - बेकार कथाकार बेकारी के क्षण में जो कुछ भी गढ़ता है, उसे अकहानी कहते हैं।

मैं नहीं जानता कि रेणु ने इन शब्दों से उन विशिष्ट कथालेखकों की विशिष्ट दर्पशाली अहमन्यता पर कोई तमाचा पड़ा भी या नहीं, जिन्होंने कि अपने विशिष्ट तरकीबों वाली अति विशिष्ट कलाबाजी से 'कहानी' को 'अकहानी' बना डाला, सचमुच। पर, जानता हूँ कि वैसी दुःसाध्य बेला में भी कुछ शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी, कमलेश्वर, शेखर जोशी, लक्ष्मी नारायण लाल, हृदयेश थे कि जो समाज से कुछ ऐसे चरित्रों को उठाकर विम्बित कर रहे थे जो

सामाजिक संबंधों और मूल्यों की स्थिरता एवम् परिवर्तन कामी चेतना का व्यष्टिकरण कर सकते थे। इनमें से ही क्षेत्रीय चेतना एवं मानवीय दशा' दिशाओं का बेलौस अनावृत चित्रण करने के लिए रेणु के पात्र आगे आये 'अदम्य उत्साह और उत्कट नग्नता के साथ कि समाज के साथ-साथ पूरे भूगोल का ही कुछ ढंका-छुपा नहीं रह पाया, न जीवन जगत! न आदमी, न पशु। न आचार न व्यभिचार। और, इस क्रम में ही हम इससे भी आगे बढ़-चढ़ कर क्रियाशील पाते हैं चन्द्र किशोर जायसवाल को, जिसने न तो साहित्य के ऊपर मंडरा रहे 'वादों' की परवाह की, न ही किसी 'पंथ' की रक्षा। जो न तो अपनी कथा के लिए 'सातवें आसमान' की उच्चता को अपना अभीष्ट बनाया, न ही लेखन की दुनिया में एक ख़ास धारा प्रवाहित कर देने की अहमन्यता गढ़ी। इनकी रचना-प्रक्रिया बस इतना भर है कि यह लेखक कागज पर कलम साधकर बैठ जाता है, आखों को अर्जुन की तरह लटक रही मछली पर साधे हुए कि चुंधिया देने वाली चौतरफा रौशनी के केन्द्र में वह अन्धकार है जहाँ उसका पात्र आकार ले रहा है और जो धीरे-धीरे वह वहां से उठकर समाज के चश्मक में उतराता-तैरता, थकता-सुस्ताता और फिर बिजली की तरह कौंधता पत्रों के इस पार से उस पार तक छा जाएगा, कभी 'दीपनाथ' बनकर तो कभी समीर और रिमझिम बनकर। यह निर्माण न विद्रोही है, न अलगाववादी और न ही लोकजगत में अपनी विशिष्टता धारित कर लेने के व्यामोह में फंसा संघर्षवादी। जीवन जीता हुआ महज एक सामान्य जन है वह, घनानंद या हेमांगिनी या अपने ही पुत्रों-पुत्रबधुओं से दुत्कार दिया गया किशुन साह बनकर।

परन्तु यह होता कैसे है?...वह कौन है



जिससे एक जायसवाल या कोई और भी, वह करा लेता है जो करा लेने के लिए वह चाह रहा होता है? या फिर इस चाह करने वाले का वह निर्माण ही इतना धृष्ट निकल आता है कि अपने पीछे-पीछे अपने सर्जक को ही डोरियाये फिरता है, जैसा कि जायसवाल जी को उनके कई पात्रों ने स्वयं की इच्छा पर खूब नचाया भी? यही है कथा लेखकों का पात्र, रचना का करमवीर ! इन पात्रों का सृजन भाव शून्यता से नहीं होता, ये तो लेखकों के उन्मत्त उत्तेजना के प्रतिफल हैं। यही वह रहस्य है जिसके लिए स्तालिन ने साहित्यकार को मानव आत्मा का इंजीनियर कहा है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि लेखक एक इंजीनियर है जो अपने रचना पात्रों में मानवीय आत्मा और आत्मीय चेतना का निर्माण कर लेता है, मगर कोई इंजीनियर जो सही मायने में इंजीनियर ही है, किसी आत्मा का निर्माण करना चाहे भी तो कम्प्यूटर या रोबोट के इस युग में वह आत्मा के सदृश्य कोई यंत्र तो बना देगा, उसमें मानव आत्मा की संवेदना अथवा चेतना का सादृश्य नहीं भर सकता।

तब, होता यह है कि यदि कोई संवेदनशील रचनाकार, अपनी संवेदना से आहत होकर, स्वयं की ही प्राण-रक्षा के लिए, अपने ही परिवेश से एक कातर पात्र उठाकर उसे हृदयस्थ करता है, तो फिर उसका ही वमन करके वह एक यथार्थपरक रचना को जन्म देता है। विपरीततः यदि कोई व्यक्ति अपने विचारों को थोपने के लिए कोई कहानी यथावत गढ़ना चाहता है तो यह मसि-कागद का खेल तो हो जाता है, साहित्य रचना नहीं हो पाती, यद्यपि कि वह किसी राजनितिक पार्टी का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष समर्थक बन के अपने अनुभव का कितना ही बड़ा भागीदार और गवाह क्यों न हो, जैसा कि नयी कहानी का

निकष आते-आते विचार प्रभाषित नयी कहानियों के दौर में हुआ।

एक उदाहरण, वह भी मेरे चहेते, हमारे समय के सुप्रतिष्ठ कथाकार को लेकर, इसलिए कि पात्र गठन की जिस अनिवार्यता की मैं चर्चा यहाँ कर रहा हूँ, वह स्पष्ट हो सके।

मंटो (यह नाम हिंदी पट्टी के कथालेखकों की विरादरी में अब कोई घुसपैठिया नहीं है, यानी, इसकी उपस्थिति-स्वीकार में किसी को कोई मितली नहीं आनी चाहिए) की एक पात्र है 'सकीना, कहानी है 'खोल दो'। प्रस्तुत है इस कहानी का एक छोटा सा अंश,

'उसने लाश के ज़र्द चेहरे पर चमकता हुआ तिल देखा और चिल्लाया, 'सकीना'!

डॉक्टर ने जिसने कमरे में रौशनी की थी, उससे पूछा, 'क्या है'?

उसके हलक से सिर्फ इतना ही निकला, 'जी मै...जी मै इसका बाप हूँ ...।'

डॉक्टर ने स्ट्रेचर पर पड़ी लाश को देखा, फिर लाश की नब्ज टटोली और उससे कहा, "खिड़की खोल दो..."

मुर्दा जिस्म में जुम्बिश हुयी...

बेजान हाथों ने इजारबंद खोला ..

और शलवार नीचे सरका दी...'।

अब कोई बताये हमें, कि इंसान की तो छोड़िये, है कोई ऐसा हैवान भी जो इसके बाद अपनी आखें इस सरकी हुयी शलवार के पीछे गाड़ लेने की बेशर्मी पालता हो?...है ऐसा कोई पर्देदार समाज जिसकी हैवानियत की सारी पर्देदारी तार-तार होने से बचकर रह गयी हो। नहीं न...?

फणीश्वरनाथ रेणु की भी एक स्त्री-पात्र है, एक गोआनिज लेडी, डायना गेस्ट हाउस की मालकिन, कहानी है, 'लफड़ा'।



जायसवाल जी की भी एक कहानी है, 'आघातपुष्प', स्त्री पात्र है "रिमझिम"। कथा का एक छोटा सा अंश पेश है,

रिमझिम समीर (कथा-नायक) से, 'तुमने कभी किसी नंगी औरत का चित्र नहीं बनाया था, तो फिर इस रिमझिम को नग्न देखने की, नग्न चित्रित करने की चाह इतनी बलवती क्यों हो उठी? तुम्हारे बनाये हर चित्र में माँ एक बार अपने को ढूँढती है और जब नहीं ढूँढ पाती तो तुमसे पूछती है, 'इस चित्र में मैं भी कहीं हूँ क्या रे समीर? रिमझिम की नंगी देह का चित्र तुम क्या दिखाते माँ को?'

समीर आत्मग्लानी से भर उठा ... अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ कि लड़की ने पदाघात किया।...अच्छा हुआ, बहुत ही अच्छा हुआ कि लड़की फुर्र हो गयी ...

मगर लड़की फुर्र हुयी नहीं थी।

एक दिन जब समीर अपनी चित्रशाला में चित्रांकन कर रहा था, बिना किसी आहट के दरवाजे का पर्दा हटाकर रिमझिम अंदर आ गयी। उसका आगमन इतना अप्रत्याशित था कि आगंतुक को अपरिचय और अचरज की निगाहों से देखा समीर ने। वह बस देखता रह गया, कुछ बोल तक नहीं पाया। यह वह रिमझिम थी भी नहीं जो सजी-संवरी, चहकती-मुस्कराती आती थी उसके सामने। ओवरकोट में उसने पहली बार देखा इस सुंदरी को चित्रकार की अचंचलता पर रिमझिम का ध्यान नहीं गया।

... उसने ओवरकोट के बटन एक-एक कर खोल दिये और ओवरकोट बदन से नीचे उतार दिया।

अब रिमझिम बिलकुल नंगी खड़ी थी समीर के सामने। समीर की आँखें रिमझिम की आँखों से जा टकराईं।

'अगर मेरा नग्न रूप ही,' रिमझिम बोलने लगी, 'आपकी प्रेरणा बन सकती है, तो यह स्वीकार है मुझे।'

...कसणा बहती रही, घृणा टपकती रही, आग जलती रही और सुंदरी के पदाघात से अशोक खिलने लगा, नग्नता जब पवित्रता के कंगूरे चढ़ती है तो दुनिया की सारी नंगई मुह छुपाने के लिए कोना ढूँढने लगती है। जानकार इसे ही कहते हैं कि नग्नता नंगे बदन में नहीं होती, यह उन आँखों में होती है जिससे कोई बेशर्म अपनी पर्देदारी में किसी दूसरे के शर्म को झांकता है। परन्तु, पूरे यथार्थ में इस दृश्य-बंध को उतारने के लिए रचनाकार को अपनी पवित्रता में शिशु होकर अपनी ही निर्वस्त्र माँ की गोद में बैठना होता है जैसा कि समीर के द्वारा इस कहानी में एक लड़की के निरावृत युवा सौन्दर्य को निःशेष बना देने के लिए किया जा रहा है।

दृश्य-बंध में ऊपर के सभी तीन पात्र दैहिक नग्नता की तहरीर पेश कर रहे हैं। मगर समझने वाली बात इन पात्रों के गठन की सूक्ष्मता में है। मंटो का गठन-सूत्र यहाँ यह है कि, 'लोग उसे सियाह कलम कहते हैं तो कहें, लेकिन वह तख्ता-ए-सियाह पर काली चाक से नहीं लिखता, सफ़ेद चाक का इस्तेमाल करता है कि तख्ता-ए-सियाह की सियाही और ज्यादा नुमाया हो जाय। मतलब, बात की घात पाठक की छाती पर इतना जम कर पड़े कि नंगे बदन की इस जलन से वह भीतर तक छाय हो जाय और जुवां पर उतरी हुयी 'आह' भी मन मसोस कर ढकोस ले वह, जिन्दगी भर के लिए। वहीं, रेणु इस कहानी को लिखते-लिखते अप्रत्यक्ष जीवन की रचना वाह्य संकेतों से करके अपनी महानता (जिसके वे सच्चे अधिकारी तो हैं ही) में 'नए पच्चीकारी' का करतब दिखाने लग गए, यह समझते हुए भी कि



अप्रत्यक्ष जीवन कहानी में उतरते ही उतना अप्रत्यक्ष भी नहीं रह जाता। उसके कर्म उसे नंगा करके ही छोड़ते हैं। यहाँ उनकी पात्र सेक्स की नंगई देखने की अपनी अभिप्सा से कहानी को ही विशुद्ध 'हॉट' रूमानी रचना बना डालती है। जायसवाल के लिए इस कहानी का ध्येय है 'कस्सा का बहते रहना, घृणा का टपकते रहना, आग का जलते रहना' जो रचना में सिर्फ शब्द बनकर नहीं उतरते, इसके लिए रचनाकार को अपना कर्म (रचना-कर्म) साधना होता है, उच्छृंखलता से नहीं सधता यह। इसके लिए रचनाकार स्वयं तुरीयावस्था में पहुँच कर अपने पात्रों की हर चाल को पूरी तन्मयता से साधता है। तुरीयावस्था में ही पहुँच कर मंटो ने सकीना का नेज़ा अपनी छाती पर सहा तो 'खोल दो' बन आई। जायसवाल के रिमझिम का नग्न होते ही नग्नता का आघात समीर के मर्मस्थल पर हुयी तो 'आघातपुष्प' खिल उठा। मगर रेणु जैसे कलमकार से यहाँ थोड़ी चूक हो गयी कि उन्होंने आदमी की वासना को नंगा करने के बजाय 'मैडम' की आँखों से 'छोकरी का पलट पोज' देखा तो कहानी कहानी न होकर दुनियावी दिलचस्पियों का गवाह बनकर रह गयी।

इन उदाहरणों से जो छवि उभरती है वह यह है कहानीकार की अंतश्चेतना में छुपी आकृतियाँ ही हैं कि जिससे समर्थ होकर वह ऐसे पात्रों को गढ़ लेता है जिसकी अनावृति में दुनिया की सारी पर्देदारी बेनकाब होकर फड़फड़ा उठती है, कि वाह!, यह हुआ न हिज़ाब कि जिसने पूरी कायनात को ही बेहिजाब होने से बचा लिया! यही है रचनाकार की वह करामात कि वह जो कुछ भी देखता है, बिना किसी परदे का देखता है, परन्तु अपने इस देखे को उतारता है पूरे लिहाज में कि दुनिया की आवरू आबाद रहे, कि

उसके लिखे से साहित्य आबाद रहे। साहित्य को आबाद रखने के लिए परम्पराओं को तोड़ना होता है, नए को लाना होता है। रचना न तो आत्मरति है और न विक्षिप्तता। बेबर का मानना है कि, 'कलाएं और साहित्य भी परम्परा से उच्छिन्न हो जाते हैं। धर्म और विज्ञान के समांतर ये स्वायत्त तो हो उठते हैं। मनुष्य के सौंदर्य का क्षेत्र संस्थानिकृत होता है। कलाएं बाजार में बेची-खरीदी जाने योग्य हो जाती हैं और इसलिए वे स्कूल-कालेजों में पढ़ाई जाने लगती हैं। उनके शास्त्र विकसित होने लगते हैं।' यानी परम्परागत होते ही कला और साहित्य रूढ़ होने लग जाते हैं। इससे बचने के लिए परम्परा को छोड़कर नित्य नूतन प्रयोग करना होता है। जायसवाल का भी मानना है कि, 'एक साहित्यकार, जिसके लिए अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण होती है, अभिव्यक्ति की प्रणाली नहीं, वह प्रयोग का आग्रही होता है और अभिव्यक्ति के अनुरूप ही रचना-शिल्प का व्यवहार करता है ताकि वह रचनागत उद्देश्य में पूर्णतः सफल हो सके।

इस तरह हम पाते हैं कि एक कथाकार जिस पात्र को अपने परिवेश से उठता है, वह एक छन्देश मानव ही होता है, किन्तु प्रतीकात्मक। ये पात्र ही रचनाकार की अभिव्यक्ति, जिसकी बात जायसवाल ऊपर में कर रहे हैं, का साधन बनते हैं। इसके लिए वह अपने अनुभवों की तरलता में घंटों, महीनों, और कभी-कभी तो वर्षों आँखें बंद किये तैरता रहता है। अपनी लेखन प्रक्रिया पर बात करते हुए कृष्णा सोबती कहती हैं, 'सालों साल कोई रचना उगने का नाम नहीं लेती, कई बार तो ऐसा होता है कि लेखन के लिए किसी कहानी या उपन्यास का कच्चा माल, उसका टेक्सचर हाथों के पोरों को छूता है और उसी रात सारी की सारी कहानी आँखों के आगे



सजीव होती चली जाती है। बस लिखने के पहले ही कहानी खतम। ...जहाँ कुछ खोज लेने की, डुबकी लगाकर समंदर के नीचे से मोती निकाल लाने की हैरानी शामिल न हो, उस कहानी-उपन्यास को लिखने में मुझे कोई तुक नज़र नहीं आती।'

तो, समंदर के नीचे गोते लगाकर रचनाकार अपने लिए कुछ इच्छित 'मोतियाँ' चुनता है, और शब्दों को जोड़-जोड़कर इन मोतियों का नाम देता है और उनमें लिंग प्रत्यारोपित करता है। फिर, युक्तियुक्त मुद्राएँ देता है, उद्धरण चिन्हों का प्रयोग कर इनको बुलाता और व्यवहार में सुसंगति लाता है। इनसे जो विग्रह तैयार होता है वह ही है लेखक का कथा-पात्र, जिसका 'डी. एन.ए.' सिर्फ लेखक की ही अनुवांशिकता धारित करता है न कि किसी अन्य का, इसलिए ही मैं मानता हूँ कि रचनाकार की मौलिकता परम्परा-रोही नहीं हो सकती। ऐसा इसलिए भी कि जायसवाल या अन्य कोई रचनाकार भी इस हेतु कोई सुस्थापित विधि, फार्मूला, अथवा व्याकरण को प्रयोग में नहीं लाते और इसलिए ही इनका पात्र तथ्यतः एक मानव पात्र होकर रचना में अवतरित होता है, न कि वायवी होकर एक विदूषक-सा जो अपने मालिक के कथन की यंत्रवत पालना करे। फार्मूला- कहानियों में ऐसे विदूषक बहुतायत में मिलते हैं जिनसे वादी-आग्रही कहानी के दौर में पाठको का सामना आसानी से होता रहा है। जीवंत-कहानी की रचना यायावरी कराती है जबकि सूत्रबद्ध रचना के लिए चार दीवारों से घिरा प्रकोष्ठ ही काफी है। हरिशंकर परसाई ने 'नयी कहानी' को लेकर आयोजित एक सम्मलेन में कहा था, 'मुझे स्वयं अपने से तथा सहकर्मियों से भी एक शिकायत है कि हमारी कहानियों में वैविध्य कम होता है। इसका कारण एक तो

मध्यमवर्गीय लेखक की विवशता है। दूसरा कारण अपने ही अनुभव से मुझे लगता है कि हम सचेत होकर नहीं जीते-एक धारा में बह जाते हैं। सचेत होकर जीने का अर्थ है, अपने दैनिक अनुभव-संवेदनाओं के प्रति जागरूक होना, उन्हें बटोरना, उनपर विचार करना, उनका विश्लेषण करना और उनमें अर्थ खोजना। 'कहानी लिखना बड़े-बड़े प्रयोगशालाओं में झुंड लगाये बैठकर सूत्रों और तथ्यों के संयोग से अंतरिक्ष यान बनाना नहीं होता, इसके लिए अंतरिक्ष की सैर करके अनुभवों को तराशना होता है जो रेणु या जायसवाल जैसे साधकों की अपेक्षा करता है।

कैसी विडम्बना है कि 'कहानी विश्लेषक बड़े ही चलताऊ ढंग से कथा-रचनाओं के स्कूल और विश्वविद्यालयों में प्रश्नोत्तर की कुंजियाँ बनकर विद्यार्थियों को रटवा देते थे कि प्रेमचंद्र की कहानियाँ भाव-प्रधान होती हैं, जैनेन्द्र की चरित्र प्रधान तो यशपाल की वस्तु-प्रधान।' अब अगर रेणु या जायसवाल इन विश्लेषकों की चिरौरी करते होते तो विद्यार्थियों की कुंजिका में जुड़ जाता कि रेणु और जायसवाल ने बस ग्राम-प्रधान कहानियाँ ही लिखी (गो कि और भी ज्यादा चलताऊ ढंग से यह कहा भी गया कि रेणु कथाकार तो विशिष्ट हैं मगर 'ऑचलिक') और जायसवाल? इस प्रेत का तो नाम ही मत लो, क्योंकि यह किसी गाँव की बरगद पर भी बैठा मिल जायेगा और लालकिले के पैताने बैठकर राष्ट्रपति भवन के कंगूरे निहारता भी।

कई बार रचनाकार के समक्ष कुछ अप्रत्यक्ष जीवन को प्रत्यक्ष कर देने की चुनौतियाँ आ खड़ी होती हैं, जैसे गोदान में प्रेमचंद के समक्ष चुनौती थी समाज के अग्र पांक्तेय जनों में व्याप्त धूर्तता और धार्मिकता के गठजोड़ को नग्न करने की। इस हेतु उन्होंने बहुत सारे पात्र गढ़े' लाला



पाटेश्वरी, पंडित नोखेलाल, दातादीन, ठाकुर झिंगुरी सिंह वगैरह। ये सभी पात्र अतिशय बातूनी हैं, इतने कि खुद-ब-खुद अपनी समस्त गोपनीयता भंग कर दे रहे हैं।

इसी तरह, अपने पात्रों पर वैचारिक प्रत्यारोपण की चुनौती 'अपराध' कहानी लिखते वक्त संजीव के सामने भी खड़ी होती है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ऐसा एक पात्र गढ़ने की जो लेखक की वैचारिक धारणाओं का संवाहक बन सके। इस हेतु कहानी के नायक सचिन, जो एक सामान्य-सा भारतीय परिवार का सदस्य है, भावनाओं के अतिरेक में नक्सली बन जाता है परन्तु उसके नक्सली हो जाने का कोई दृश्य-बंध कहानी में प्रस्तुत नहीं हो पाता और अंततः वह एक विचारक बनकर समाज के अपराधीकरण के कारणों की पड़ताल में लग जाता है। हम यहाँ कहानी की सफलता-असफलता पर कोई बात नहीं कर रहे, यह देखना पाठकों का काम है। हमारी सीमा यहाँ पात्रों के गठन और उसके कार्य-कारण तक ही सीमित है। यहाँ यह जानना जरूरी है कि 'इतिहास' मनुष्य के जानने-समझने और संवेदित होने का एक सबल पक्ष है, जिससे अच्छा रचनाकार भी नहीं होता। मगर रचनाकार के लिए इतिहास के सिर्फ उस पक्ष का ही महत्त्व है जो कथा-इतिहास के उपयुक्त मनुष्य (पात्र) में लक्षित होता है। कहानी रचयिता अपने पात्रों में इतिहास नहीं थोपता, वह उसमें थोपा जाने के लिए तय इतिहास के उस रूमानी पक्ष को चुराता है जो उसके पात्रों के 'इमोशन्स' द्वारा पाठकों के सामने आता है, जैसे, उसका आत्म-संलाप, सुख-दुःख, आचार-व्यवहार, शर्म-उद्विग्न, यानी उसका वह पक्ष जो खालिस तौर पर उस पात्र को तथ्यतः जीवन-व्यापी मनुष्य की सीमा के बाहर जाने से रोक सके। भाषण देना, विचार

बघारना, सिध्दांतों का प्रतिपादन करना, वास्तविक मानव के वे क्रिया कलाप हैं जिससे वह खुद को अपने ही लोगों के बीच विशिष्ट बनाता है। कथा में तो पात्रों का कोई सामाजिक अनुबंध होता ही नहीं जैसा कि हम 'अपराध' में होता देख रहे हैं। रेणु के पात्रों में भी इस अनुबद्ध की उपस्थिति नहीं के बराबर है और जायसवाल की रचनाओं में तो यह खोजे भी कहीं हाथ नहीं लगती। कारण, जायसवाल किसी 'वाद', यहाँ तक कि यथार्थवाद के चितरे भी नहीं हैं, बल्कि उनकी कहानियाँ उनके परिवेश के प्रांगन में हू-ब-हू तस्वीरें खिंच कर पाठकों के सामने आती हैं, और इसलिए ही कहा जाता है कि इतिहासकार अभिलेखन करता है, कहानीकार रचना करता है।

'चिरंजीव' (उपन्यास) का शशांक, 'मैं अकेला, मैं आकेला' गुनगुनाते-गुनगुनाते आठ सौ पृष्ठों का विस्तार पाते हुए सम्पूर्ण दुनियादारी की दैनन्दिनी गढ़ लेता है, जहाँ पिता-पुत्र, पति-पत्नी, दुःख-सुख, प्रेम-प्रलाप, इहलोक-परलोक, माया-मोह, क्षोभ-विक्षोभ, सार-निःसार सब हैं मगर बस मनोविज्ञान की महागाथा बनकर।

'दाह' (उपन्यास) का इतना बड़ा ताना-बाना जिसमें ग्रामीण संयुक्त परिवार में व्याप्त पूत-कपूत, सुख-दुःख, मान-सम्मान, मद-मर्यादा-मोह, लोभ-लालच-प्रपंच, विश्वास-अंधविश्वास, तंत्र-मंत्र, टोना-टोटका, सब एक साथ उतर आता है, बस आठ पोतों की एक विधवा दादी और उस दादी का एक लायक पोता बलदेव को केंद्र में रखकर।

'माँ' (उपन्यास) सामान्य घर-परिवार-समाज में घटित अनेकानेक घटनाओं का सजीव अवतरण है, चल-चित्र की तरह। धन-लिप्सा, धन केन्द्रित सम्बन्ध, रिश्ते-नाते, मित्रता, धनार्जित



मान-प्रतिष्ठा, धन की ही व्याख्यायित वैचारिक केन्द्रीयता' यह तो बस कहने को है माँ-धन मधे कठौत, वंश मधे फु-फु। सच तो यह है कि जब धन मधे कठौत तो वंश मधे कोई नहीं होता। पैसा मदारी की तरह रिश्तों को नचाता है। मदारी का यह खेल मैं देख चुका हूँ, देख चुका हूँ कि पैसों के जाते ही रिश्ते उखड़ जाते हैं और फिर पैसे के आते ही नए-नए रिश्ते भी उग आते हैं। और इतनी बड़ी बैचारिकी की स्थापना हेतु बस एक केन्द्रित पात्र-लखन पाल।

यहाँ द्रष्टव्य है कि लेखक के इन विचारों का कथा में प्रतिपादन किसी सूत्राधारित उपदेश या प्रतिपादित व्याख्यान के द्वारा नहीं हो रहा है, यह तो इन चरित्रों की अपनी व्याप्ति का वह अंश है जो चित्र बनकर या कहिये कि जीवन जीने के स्वाभाविक व्यवहार में उतरकर कथा में क्रमिक व्यवस्था पा रहा है। बटरोही के शब्दों में, 'जिज्ञासा, अनुभूति, कौतुहल, और कल्पना किसी भी कहानी की रचना-प्रक्रिया में अभूतपूर्व योगदान देते हैं, क्योंकि कहानी इन्हीं तत्वों के मिश्रण पर निर्भर करता है।' जायसवाल इन तत्वों और औजारों को लेकर बड़ी चतुरता से अपने पात्रों को तराशते हैं, और उसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों और व्यवहारों का 'क्रोमोसोमिक; प्रभाव पैदा करते हैं कि कथा-मानव दुनिया के सही मानव का 'कोलोन' बन जाए' उसमें जीवन्तता समा जाए! इसके लिए उन्हें किसी जीते-जागते मनुष्य का तबतक पीछा करना होता है जबतक कि अपहृत होकर वह मानव उनके हृदय में न सामा ले और अंदर ही अंदर उन्हें मथता भी रहे, तबतक जबतक कि वे फिर से उसे कागज के पत्रों पर उद्भाषित करके निश्चिन्त न हो जायें। पात्रों के सृजन की यह क्रिया पूरी तरह एक आत्मिक-आध्यात्मिक प्रक्रिया ही है जिसमें लेखक अपने परिवेश से

हिलमिल कर पात्र को 'कंसिब' करता है, आवश्यक समय तक उसे अपने गर्भ में पालता-पोषता है और फिर यथासमय प्रसव 'प्रीडा को सहकर उसे जन्म देकर मुदित हो उठता है।

श्रीपत राय के शब्दों में, 'प्रत्येक चित्रलिपि अथवा रेखांकन जो मनुष्य के हाथों सृजित हुआ है, उसने इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि भौतिक और आत्मिक जीवन के मिलन बिन्दु पर ही कला का जन्म संभव है। प्रत्येक आकार, प्रत्येक रेखा, प्रत्येक आकृति वास्तविक जीवन का ही एक अंश है परन्तु प्रत्येक कृति अभिलिखित होने की प्रक्रिया में उस मानस से उपजी है जो उसके नियंता कलाकार का है।'

जायसवाल जी अपने दैनिक जीवन से अपने पात्रों को किस तरह उठाते हैं, इसकी कुछ बानगी देखिये - एक बार मुजफ्फरपुर (बिहार) की सड़कों पर एक छोटी सी दूरी तय करने के लिए एक रिक्शा चाहिए होता है। रिक्शा मिल जाता है मगर चालक वृद्ध है, जर्जर होता- सा। थोड़ी सी हिचकिचाहट के साथ जायसवाल जी रिक्शे पर बैठ जाते हैं। चालक पैडल पर लात मारता है, एक बार, दो बार, तीन बार, मगर रिक्शा हिलता तक नहीं। कुछ कमाई की आस लिए बूढ़ा माथे पर हाथ धर कर बोलता है, 'या खुदा, अब क्या होगा?' आदमी की यह बेबसी, बेचारगी, लाचारगी, नैराश्य, और इसके साथ जुड़ी इंसान की सारी फितरत इस रचनाकार को जकड़ लेती है तो यह कचोट उसकी कई-कई कहानियों के पात्रों को जन्म देती है, अलग-अलग रूपों में। वियोग की आह से रचना का नियोग! किताबों में पढ़े गए अमीरी-गरीबी के किस्से, इतिहासों में दर्ज आक्रान्ताओं के अत्याचार से सिसकती आत्माएं, राजनीति वाले वाद-विवाद, साहित्य के गुटवाजों के बीच फैलता-फूलता



प्रायोजित विमर्श, विद्वानों-विद्वेषकों के प्रभावपूर्ण चिंतन, यह सब कही से भी इस रचनाकार को प्रक्षेपित नहीं करता। वह तो अपने घर-आँगन, बाद-विवाद, कर्म क्षेत्र-कुरुक्षेत्र से ही काँपता रहता है और हर प्रकंप से एक पात्र गढ़ लेता है। 'आखरी ईंट' के सामंत गजेन्द्र नारायण को कोई बाहरी प्राणी समझाने-बुझाने नहीं आता, किसी विचारक, सुधारक, संघारक के प्रभाव में आकर उसकी चेतना नहीं बदलती, वह तो अपने ही व्यवहार से खुद आहत हो जाता है, कि समाज को कैसे मुंह दिखाया जाय? ... 'बीमार कुत्ते की तरह एक अँधेरा कोना ढूँढ़ लेना चाहा उसने।'

'काल भंजक' कहानी का मुख्य पात्र नेवी साह एक ख्यातिकामी, प्रशंसा का भूखा, आत्म वंचक व्यक्ति है जैसा कि अन्य व्यक्ति भी सामान्यतः होते हैं, जो अपने नाम को उजागर करने के लिए अनाप-शनाप खर्च तो उठा लेता है, परन्तु यथार्थ में नेकदिली के काम में सुई की नोक मापित व्यय भी करने से साफ भाग खड़ा होता है। एक सामान्य मानव मन की अति सामान्य व्यंजना की दिलचस्प कहानी।

पूँजीवाद और उपयोगितावाद की अति आधुनिक समस्या के रू-ब-रू एक कहानी है 'कसमों की महायात्रा'। कहानी में इस समस्या को व्याख्यायित करने के लिए कहीं भी व्यापारी-वाणिज्यिक समाज को छुआ तक नहीं जाता। कहीं भी 'माल', 'उपभोग', 'बाजार', 'मंडी', जैसे शब्द संकेतित भी नहीं इस्तेमाल हुए। परन्तु एक अति सामान्य ग्रामीण परिवेश और परिवार की रचना करके उसके सदस्यों के दैनंदिन चर्या की बघार मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यक्ति जबतक स्वस्थ है, घर-गृहस्थी के जुए अपने कन्धों पर उठाये पूरे परिवार को खींचे जा रहा है, तबतक ही वह 'उत्पादक' है क्योंकि

उसके अस्तित्व में उसके बेटा-बहु, स्वजन-परिजन, यहाँ तक कि उसका रिक्शा, उसकी गाय, सब फल-फूल रहे हैं, परन्तु जैसे ही वह अस्वस्थ होकर अथवा अपनी उम्र पूरी करते-करते लाचार होता है, अपने ही घर में 'अनुपादक माल' बनकर घर के बही-खाते में 'राईट ऑफ' कर दिये जाने की स्थिति में आ जाता है, यानी यह बुढ़ा अपने ही निर्मित घर के एक कोने में फँक दिए जाने के अंजाम तक पहुँच जाता है। न कोई फार्मूला, न कोई विचार, न कोई स्थान-वैशिष्ट्य और कहनी उस विश्व व्यापी यथार्थ से पाठकों का साक्षात्कार करा देती है जो प्रमाणिक भी है और सामाजिक भी।

एक और जीवंत उदाहरण। जायसवाल जी का एक पोता दिव्यांग है। उसके भविष्य को लेकर वे हमेशा ही स्वाभाविक चिंता में जकड़े होते हैं। उनकी यह चिंता ही एक कहानी बन जाती है 'खंडकथा'। एक आजन्म विकलांग के साथ उसके दादा के आत्मीय जुड़ाव की अद्भुत कहानी है यह दादा, जो घर-गृहस्थी की चाक घुमाते-घुमाते और वसंत दर वसंत अपनी उम्र ढो-ढो कर अब नैराश्य का पतझड़ झेल रहा है, जिसने जीने से बेहतर अपनी मौत को मान बैठा है, इस वैराग्य काल में उसके घर में उसका यह तीसरा पोता आता है। बच्चा विकलांग है और उसकी विकलांगता का कोई ठोस उपाय नहीं है। धीरे-धीरे यह विकलांग बच्चा घर वालों की चिंता से बाहर हो जाता है। बच्चे की उसके निहायत अपनों द्वारा की जा रही घनघोर उपेक्षा, दादा के अपने जीवन के प्रति उत्पन्न वैराग्य को ही मिटा देता है और उन्हें अपने इस पोते का विरागी बना देता है। ऐसा विरागी कि अब वे सभी दुखों को सह कर भी इस बच्चे के खातिर जीना चाहते हैं, तबतक जबतक कि इस बच्चे



का जीवन पूरी तरह सुरक्षित और निरापद न हो लें। इस हेतु वे दर-दर की खाक छानते फिरते हैं, हर किसी की चिरौरी करते फिरते हैं। अपनी मरणान्तक अस्वस्थता में भी बस इसकी ही हित-चिन्ता में बेचैन हैं वे। यही लेखक का वह प्रमेय है जो साबित करता है कि एक सफल रचना अपने प्रभाव और सामर्थ्य में सिर्फ और सिर्फ मानवीयता और मानवोचित व्यवहारों की ही रक्षा करती है। पंडित जवाहार लाल नेहरू कहते हैं कि, 'जिन्दगी वहाँ तक महदूद नहीं जहाँ तक हम खुद को दिखने वाले समय और अवकाश में देख पाते हैं' जिन्दगी उस अनदेखी दुनिया को लगातार छूते चलती है जिसमें शायद ज्यादा टिकाऊ या उतने ही परिवर्तनशील तत्व मौजूद है। कोई भी विचारवान मनुष्य इस अनदेखी दुनिया की अवहेलना नहीं कर सकता। इस बात को लेकर ही हम ऊपर कह आये हैं कि अक्सर ही रचनाकार के सामने अप्रत्यक्ष जीवन को प्रत्यक्ष कर देने की चुनौतियाँ खड़ी होती हैं। सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में इस चुनौती को साधने के लिए सहज लेखन सबसे धारदार साबित हुआ है, विचार मूलक साहित्य में अक्सर ही ये चुनौतियाँ उलझ कर रह जाती हैं।

'विचार मूलक' साहित्य के बारे में फ्रेडरिक एंशेल्लस कहता है कि, 'मैं यह नहीं मानता कि लेखक के लिए यह जरूरी है कि वह जिन सामाजिक संघर्षों का चित्रण कर रहा है, उनकी भावी ऐतिहासिक परिणतियों के सम्बन्ध में किसी नतीजे पर पहुँचे। मेरा यह स्पष्ट मत है कि लेखक अपनी कृति पर अपनी धारणा थोपने से जितना ही बचेगा, उसकी कृति उतनी ही प्रामाणिक होगी।'

जायसवाल की एक नहीं, अनेकों कहानियाँ हैं जिसमें उनका कोई भी पात्र हमारे समक्ष

सामाजिक अनुबद्ध लेकर नहीं आता। वह तो सामान्य मानवी व्यवहार के साथ ही हमारा साक्षात्कार करता है जैसे कि वह हमारे घर का ही कोई पुराना पहिचान वाला हो, ठीक वैसा ही कि जिस रूप में हमने उसे कही न कही देखा हुआ है!

विचारों के प्रतिस्थापन से कोई भी कलाकार परहेज़ नहीं करता, करना भी नहीं चाहिए क्योंकि उसका भी अंतिम लक्ष्य समाज के समय सापेक्ष वैचारिक आलोड़न का दस्तावेज़ तैयार करना ही होता है जो परवर्ती समय में इतिहास बन जाय। इस कारण ही प्रेमचंद का लेखन गांधीवादी विचारों के ज्यादा निकट अवधारित हुआ, यशपाल नारी चेतना को लेकर कुछ नया करते दिखाई दिए तो जैनेन्द्र स्याद्धादी रचनाकार कहलाये 'वास्तविक को भी झूठ और झूठ को भी वास्तविक मानकर तथ्यों की परख के लिए फार्मूला गढ़ते हुए। रेणु स्पष्ट तौर पर इनसे अलग हुए, इन्होंने भी विचारों से नहीं, जीवनानुभव से ही लिखा। राजनैतिक पार्टी के सदस्य होने से तो खुद को नहीं बचा पाए मगर लेखन के क्षेत्र में वे अपने राजनैतिक अनुभव की फांस से अपनी रचना को भरसक बचाया ही, फिर भी उनकी कुछ कहानियों से उनकी मौलिक व्याप्ति क्षीण होने लगीं, जैसे, 'अगिनखोर', 'लफड़ा', 'अग्नि संचारक', 'नैना जोगिन'। जहाँ तक जायसवाल का सवाल है तो वे राजनीति और सामाजिक झूठ से पूरी तरह ऊपर उठकर ही अपने समाज के असली पात्रों को उसके नंगे और मुखौटा विहीन रूप में ही देखा। वे अभी तक ख्याली पुलावों वाली कहानी रचने से बचते दिख रहे हैं, कारण यह है कि उन्होंने अपने पात्रों को सहजता में जीने की उन्मुक्तता दी है। उन्हें न तो ज्ञानी-विज्ञानी बनने का मौका दिया, न ही किसी सिमंड



फ्रायड, जीन पियगेट, या आब्रहम मास्लो के स्कूल में दाखिला कराया और न ही कार्लमार्क्स, चाणक्य, अमर्त्य सेन या भीमराव आम्बेदकर के किसी चटसार में आलथी-पालथी होने दिया। उनके पात्र जहाँ के थे, वहीं के हवा-पानी, नदी-पहाड़, ज्ञान-विज्ञान, दास मलूका, कबीर, तुलसी, रहीम और विद्यापति के साथ बोलते- बतियाते, सौँधाते 'अघाते, मरते -जीते रहे। वे राजनीति कर लेते हैं, लोकनीति भी बघार सकते हैं। अगड़ा भी हैं, पिछड़ा भी। सवर्ण भी हैं, अछूत भी। मगर सब अपने परिवेश और ज्ञान की सीमा में बंद नकली अनुभूतियों के बल पर एक भी काल्पनिक चरित्र नहीं गढ़ा गया। कहानियों की काल्पनिकता कला की उपज नहीं होती, यह तो रचनाकार के उस तकनीक के कारण होती है जिससे विचार विकसित होकर पात्रों के कर्म द्वारा परिलक्षित होने लगता है। भाग्यवाद कभी भी साहित्य की अवधारणा नहीं होता; वाह्य कारणों के साथ विचारों के घाल मेल से इतिहास बनाया जाता है, अथवा रिपोर्ट भी। कहानी में तो सबकुछ मानव स्वभाव पर आधारित होता है जिसमें अस्तित्व जोर देकर धारित किया जाता है जो साभिप्राय होता है, यहाँ तक कि मनोभाव, विपत्ति और सुख भी। और, मनोभाव, विपत्ति या सुख की साभिप्राय अभिव्यंजना ही जायसवाल के लिए अगर पूँजी है तो कई आलोचकों के लिए यही यथार्थ का हृद से ज्यादा विस्तार या मनोवैज्ञानिक दृश्यों का आवश्यकता से अधिक वर्णन या फिर यथार्थ का अतिरेक और कहानी का अनावश्यक प्रलम्ब हो जाता है।

'मर गया दीपनाथ' के बारे में एक विचारक राजेन्द्र शर्मा की क्या खूब टिप्पणी है, 'दीपनाथ बेचारे को लेखक की सदेच्छा ने मारा'। विल्कुल सही है, दीपनाथ की दैहिक मौत नहीं होती है।

देहधारी जीव तो साम्प्रदायिकता के संघात से उस सदाशयी के द्वारा ही बचा लिया जाता है जिसे दीपनाथ क्षण-प्रतिक्षण घोर साम्प्रदायिक ही समझता रहा। परन्तु अपनी इस अवधारणा के नग्न होते ही दीपनाथ का जीना मरने से भी बदतर हो जाता है और उसके साथ वे तमाम लोग भी सांकेतिक सामूहिक मौत मरते हैं जो अपने पूर्व धारित आग्रहों के वशीभूत अच्छे से अच्छे लोगों को भी बुरा मान लेने की हठ किये होते हैं। इस हठ से मानव नहीं, पूरा मानव समाज ही मरा हुआ समाज बनकर पृथ्वी का असह्य बोझ बन जाता है।

ऐसी ही अन्य कहानियाँ भी हैं 'हिंगावा घाट में पानी रे!', 'भट्टा', 'दुख्याम' (शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास), 'दुखियादास कबीर' वगैरह।

इन कहानियों में समाज की व्याप्ति का कोई निषेध नहीं है, व्यक्तियों का समूह समाज, मुँडे-मुँडे मतिभिन्ना ! हर व्यक्ति की अपनी चाल, अपना चरित्र। हर व्यक्ति लेखक के लिए महत्वपूर्ण, जो भाया उसे साध लिया, जो भागा उसके पीछे हो लिया। साधते-पकड़ते जब थक गया तो उसके साथ ही बैठ गए सुस्ताने। मगर सुस्ताते भी सुस्त कहाँ पड़े? 'कंसीव' करते मजा आ रहा था तो प्रसूत करते दुख काहे का! सृजन का खेल है यह। सृजन जिससे दुनिया बची रहेगी, लोक आवाद रहेगा। जैसा बोया है वैसा ही फलना है, वैसा ही फलना चाहिए। सृजनात्मक लेखन की अनुवांशिकी बस यही होगी, यह नहीं कि जो पूर्वजों ने बोया-काटा, उसकी ही बीज लेकर अपनी भी पौध खड़ा कर लो। जो प्रवृत्त है उसका ही निरूपण साहित्य चाहता है। प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं, मनुष्य की ही नहीं, पशुओं की भी, पेड़-पौधों की भी। इर्ष्या-द्वेष, छल-कपट अवगुण-सद्गुण कौन लेकर पैदा नहीं होता। सद्गुणियाँ



बढती है तो समाज सद्भावी होता है, कुवृत्तियाँ हद से ज्यादा पनपने से समाज व्यभिचारी हो जाता है। रचनाकार कोई सुधारवादी नायक नहीं होता, वह समाज का विधायक भी नहीं है, शासनाध्यक्ष तो क्या, प्रशासन का मामूली अधिकारी भी नहीं है वह और नहीं ही कोई लोकनायक ही है कि समाज को नेतृत्व प्रदान करे! वह एक लोक-द्रष्टा भर है, जो जीवन को माध्यम बनाकर अपनी अनुभूतियों के सहारे काल्पनिक चरित्रों की सृष्टि करता है, अवगाहित स्थितियों का पुनर्स्थापन करता है और चरित्रों और परिस्थितियों को चित्रित करके ही मनुष्य और समाज की आत्मा पर चोट पहुँचा कर उसे सदाशयी बनने के लिए उत्प्रेरित करता है।

‘हिं गवा घाट में पानी रे!’ में राजनेताओं के प्रपंच को उजागर करने के लिए हाशिये पर बैठा बस एक ही भंटा काफी है जो राजनेताओं के प्रपंच पालित दर्प को उन चार स्तरों से दल देता है जिसे कि उसने पाप प्रेरित मंशा वाले एक धनाढ्य सुरों बाबू से अपनी पूरी पवित्रता में पाया है। इस भंटा की प्राप्ति में जायसवाल जी ने कई वर्षों की त्रासदी खुद झेली है और उस पूरे इलाके में साल दर साल बाढ़ की इस विभीषिका को झेलते हुए ग्रामीणों का गवाह भी बने हैं। उन्होंने होते देखा है कि इस लोककल्याणकारी सरकार के बड़े-बड़े नेता हर वर्ष हिं गवा घाट पर पुल बना देने का वादा कर-करके यहाँ की भोली-भाली जनता की आस पर किस कदर कुठाराघात भी किया है और कितनी निर्लज्जता से अपना वोट भी साधा है। मगर, यह भंटा नीरा भोला भी नहीं है, सब समझता है, दलित-पीड़ित होकर भी सदाशयी है। अपने सट्टवासियों की लाचारी और सफेदपोशों की मक्कारी को खूब समझता है वह। परन्तु, है शुद्ध-आत्मा, दुखिया

दास कबीर। सब का मुजरा लेता है, सब का भला चाहता है। कहता है, ‘मै जानता हूँ कि पुल नहीं बनेगा, कभी नहीं बनेगा।... मै जान रहा हूँ कि वे लोग झूठ बोल रहे हैं, जनता को ठग रहे हैं, मगर मुझे उन लोगों पर दया आ गयी।.. वे इतनी दूर से आये हुए थे, इतनी दौड़-धूप कर रहे थे, चीख ‘चिल्ला रहे थे उछल-उछल कर भाषण दे रहे थे, किसलिए? अपने बाल-बच्चों के लिए ही न? पेट भरने के लिए आदमी क्या-क्या धंधा कर रहा है? अब अगर मुझे उनके बाल-बच्चों का खयाल आ ही गया, तो क्या बुरा हो गया? जैसे भिखमंगे को हम कुछ दे देते हैं, वैसे ही उन्हें भी कुछ दे दिया।..मेरे पास चार रुपये थे, मैंने दे दिए। मैंने पैसे इसलिए नहीं दिए कि वे लोग पुल बन्बायेगें। पुल नहीं बनेगा, कभी नहीं बनेगा, यह मै जानता हूँ।’ ‘...हाय री भलमनसाहत ! ऐसी सदाशयता को चिह्नित करना ही साहित्य का ध्येय होता है।

इस तरह की ही एक कहानी है ‘भट्टा’ ‘दो बीबियों के इकलौते शौहर की कहानी। पात्र की निर्मिती देखिये। एक दिन लेखक अपने एक व्यापारी दोस्त के साथ घूम रहा है। व्यापारी ईंट के भट्टे लगाकर ईंटों का उत्पादन करता है। घूमते हुए बिना महत्व की बातें, जैसा कि अक्सर ही होता है, छिड़ गयी है। व्यापारी बोलता है, ‘जायसवाल जी! हम भट्टा सुलगाते वक्त जिस मंत्र से भट्टे की प्रार्थना करते हैं, क्या आप जानते हैं उसे? भट्टा फूँकते समय दाह देने वाला कारीगर भट्टे से प्रार्थना करता है, ‘हे भट्टा, तुम उसी तरह पकना जिस तरह दो बीबियों का शौहर पकता है’। बस, बन गया उपन्यास, ‘भट्टा’। अवतरित हो आये दो बीबियों के शौहर ‘रामबहादुर’ और शुरू हो जाती है उनके मंद-मंद पकते रहने की मनोहारी कथा।



ऊपर यह चर्चा हो चुकी है कि लेखक का अपना ही दिव्यांग पोते के दुख से आहत होने पर एक बहुत ही संवेदनशील कहानी रच गयी, 'खंड कथा'। इस वेदना से ही आहत एक और उपन्यास है, 'दुखग्राम'। मगर अपने घर का यह दुख बीच में ही वैश्विक वेदना का संघाती हो उठता है। विकलांग बच्चे की मनोवृत्ति और मानवीयता को झकझोरती सहानुभूति के प्रकाट्य की रचना है यह। नैरेटर, जो एक अध्यापक है, कहानी के आरम्भ में ही एक दार्शनिक प्रश्न खड़ा करता है, 'क्या यह दुनिया बहुत खूबसूरत है?' और फिर परतें खुलती हैं तो एक दूसरा दार्शनिक संकट उठ खड़ा होता है कि, 'ईश्वर पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि बच्चे यदि उसकी ही इच्छा से पैदा होते हैं तो फिर निर्दोष मासूमों को वह तकलीफों से क्यों न बचा लेता? लेखक अपने पूर्व निर्मित पात्र के दुखों को निहारते, बटोरते उसका पीछा कर ही रहा था कि उसका सामना एक इससे भी बड़ी भयावह त्रासदी से होता है। सूचना माध्यमों में वह समुन्द्र के किनारे गुडी-मुड़ी पड़ा एक मृत बालक की लावारिश लाश देखता है जो कथित तौर पर सीरिया से पलायन करते यूरोप भागने वाले जत्था का हिस्सा था, आल्यान नाम का बहुत छोटा बच्चा, स्वजनों की वेबसी का मासूम शिकार! बस कहानी यहीं मुड़ जाती है और संवेदना में पग कर साहित्य की परिभाषा को प्रमाणिक कर जाती है, नैरेटर के इस उछाह में, 'संवेदना ही साहित्य है'।

'दुखिया दास कबीर' का मुख्य पात्र नकछेदी दास एक दिन अचानक ही अपने को कबीर की इन दो पंक्तियों के बीच खड़ा पाता है, 'सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे, दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे।'।

यह पात्र भी किसी फार्मूले को साधकर

गढ़ा गया पात्र नहीं है। बिहार के पुरनियाँ जिले के सिमराही गाँव का विश्व-कल्याण के लिए मगजमारी करता एक जीता-जागता मानव ही है यह जो लेखक की संवेदना और सृजनशीलता में घुल मिल कर नकछेदी दास बना हुआ है यहाँ।

हमने ऊपर के जिन पात्रों का उल्लेख किया है अथवा अन्य रचनाकारों के भी अनेकानेक अमर-सफल कहानियों के भी जो पात्र हैं, कहानी की अपनी-अपनी दुनिया में वे सब के सब सुस्पष्ट और अपनी वैचारिकता और मूल्य धारण में सुदृढ़ हैं, समाज के वास्तविक मनुष्य-पात्र की तुलना में। क्योंकि, भूमंडल का प्रत्येक प्राणी पारस्परिक रहस्यों के प्रतिबन्ध में जीवन जीता है जबकि एक काल्पनिक पात्र इन रहस्यों से मुक्त होकर अपने व्यापार में व्यस्त होता है। जिस रचनाकार की सिद्धता यह है कि पृष्ठभूमि कोई भी हो, कैसी भी हो, वह अपने पात्र के अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी चरित्रों को उजागर कर सकता है, वह भी एक साथ, तो उसके पात्र पारदर्शी होकर पाठकों के सामने उतर आने की पात्रता रखते हैं। और, पाठक इन पात्रों का सहयात्री बनकर पूरी कहानी, चाहे अपनी काया में वह एक 'महाभारत' या 'रामचरितमानस ही क्यों न हो, को सम्पूर्ण रागात्मकता में पार कर जाता है।

ऐसा इसलिए होता है कि उपन्यास के चरित्रों (पात्रों) के गठन में इसकी आवश्यकता नहीं है कि इन पात्रों को उनकी अतीन्द्रियता या उनके पूर्ण आदर्श स्वीकार में उन्हें उकेरा जाय। यह तो वास्तविक जिन्दगी की पीठिका है जिसमें हर व्यक्ति एक दूसरे को कई लक्षणों के आधार पर जानते-पहचानते हैं। एक उपन्यास या लम्बी कहानी में कई-कई पात्रों का आना-जाना स्वाभाविक है, परन्तु उनकी बारंबारता रचना को अनावश्यक फैलाव देता है, अतः किसी मोटे उपन्यास की



रचना करते हुए उपन्यासकार को मरणान्तक सावधानी बरतनी होती है। 'चिरंजीव' में यदि पाठकों का यह स्वीकार मिला है और इसकी पठनीयता में कहीं रस-भंग या शैथिल्य नहीं नोटिस की गयी है तो हम कह सकते हैं कि अपने पात्र चयन और गठन को लेकर जायसवाल बहुत सावधान और संतुलित रहे हैं। यह बात उनके एक दूसरे स्थूलकाय उपन्यास 'सात फेरे' में भी लागू हो सकती है। हालाँकि इसे बिल्कुल ठोक-बजाकर कर अंतिम स्वीकृति दे देना थोड़ी जल्दीवाज़ी होगी क्योंकि पाठकों के बीच इन रचनाओं की व्यापकता अभी निःशेष नहीं है, यह तो विमर्शों पर आधारित पूर्वानुमान भर ही है। प्रेमचंद को लेकर अब यह स्पष्ट हो गया है कि इस सावधानी में थोड़ी सी चूक के कारण ही 'गोदान', जो कि एक छरहरा उपन्यास ही है, को अनावश्यक ढेर सारे सक्रिय पात्रों का मेला-क्षेत्र बन जाने की आलोचना सहनी पड़ रही है।

पात्र गठन या चयन को लेकर एक और जरूरी बात कर लेना यहाँ अनुचित या अपरिहार्य नहीं होगा। कहानी, जो कभी किसी मनुष्य के द्वारा भोगी हुयी जीवनगाथा का अब अंश बनने जा रही है, उसमें वह मानव या उसका कोई सहजीवी ही था जो कथैक्षिक व्यवहार करके उस गाथा को हमारे सामने रख चुका है। ये पात्र कभी भी अपने आप कथा-तन की आत्मा नहीं बनते, इन्हें लेखक सायास भीतर लाता है, और उस वक्त वह अति उत्साही और स्वतंत्र मानव होता है, कथा-पात्र हो जाने के दर्प से चूर। लेकिन, जब वह व्यवहृत होने लगता है तो उसका यह दर्प अक्षुण्ण नहीं रह जाता। रचनाकार की कुशलता और दृढ़ता में वह अनुशासित होता है अन्यथा वह कथापुस्तक को ही चिंदी-चिंदी कर देता है। कथा रचना में कथाकार एक यात्री होता

है जो कई-कई प्रसंगों के छोटे-बड़े भूभाग से होकर गुजरता है और अपनी कथा में इन प्रसंगों को ही कालानुक्रम एवं प्राथमिकता के आधार पर सजाता है। इस सजाने या बैठने में 'पहले आप' 'पहले आप', 'नहीं चलता, यहाँ पहले कौन, फिर कौन' में समेटना होता है और तब जाकर कथा लेखक की यह यात्रा उसके पात्रों की यात्रा हो जाती है, अन्यथा कथा पाठकों को कहानी के मूल तत्त्व से ही हाथ धोना पड़ जाता है। 'शीर्षक' उपन्यास में यह तत्त्व बिल्कुल स्पष्ट है जो बहुत ही निपुणता के साथ सात खंडों और उन्सठ उपखंडों में स्थित-प्रस्थित होकर अवगुंठित है, इसकी चर्चा अवकाश के साथ अगले विमर्श में होगी। रेणु का 'परती परिकथा' और जायसवाल का 'पलटनिया' उपन्यास सदृश्यता में, कई कोनो से एक दूसरे को छूता हुआ मालूम पड़ता है, रमणीयता में, दृश्य बंध में, उत्कृष्टता में। इसकी चर्चा भी बिषय की अनुमति में हम अगले विमर्श में ही करना चाहेंगे। मगर, यहाँ पात्रों और दृश्यों पर लेखकीय नियंत्रण की जिस कठोरता की बात चली है उसमें थोड़ी सी शिथिलता की वजह से 'परती परिकथा' अपने अंजाम और असर में रिपोर्टाज हो जाता है जब कि 'पलटनिया' शुद्ध यथार्थपरक उपन्यास।

चन्द्र किशोर जायसवाल का कथा संसार बहुत सघन है, संख्या में रेणु जी से ऊपर प्रेमचंद को लगभग छूते हुए। इसलिए ही इनके पात्र भी संख्या बहुल हैं। कुछ स्थिर (Flat) तो ज्यादातर गत्यात्मक (dynamic)।

स्थिर पात्रों में सबसे ज्यादा दिनों तक टिके रहने वाले पात्र मनुष्येत्तर हैं-एक बिल्ली और एक कुत्ता। 'आँख की खूँटी' की बिल्ली पाठक की भावनात्मक दृष्टि के केंद्र में बनी रहती है, एक बूढ़ी विधवा के खाने के लिए चूहे



पकड़ कर अथवा मछली पकड़कर लाने में व्यस्त। जैसे कि वह उसकी कोई सगा हो या कि उस बुढ़िया को भूखे नहीं मरने देने का प्रण उठा रखी हो, बिल्कुल मानवी आत्मीयता से ओत-प्रोत! 'डोर' में एक कुता है जो पुरे गाँव के आतिथ्य की रक्षा की जिम्मेवारी अपने ऊपर स्वतः उठाये हुए है बिना इस बात की प्रवाह किये कि जो आगन्तुक आया है उसके अपनों को उसकी चिंता लेश मात्र भी नहीं है। हालाँकि, मानवीय संबंधों के विघटन पर पर इस कुत्ते की उपस्थिति जमकर चोट पहुँचा रही है, जो फ्लैट पात्रों की विशेषता ही है।

इस तरह ही 'दुखिया दास कबीर' का नकछेदी दास भी है जो संभावित विनाश से दुनिया को बचा लेने की जुगत में अकेला ही पागल हुआ जा रहा है।

'मर गया दीपनाथ' का दीपनाथ है जो बिना किसी हेल मेल के पूरी कहानी में अकेला ही अलख जगाये है। और भी है, 'मानबोध बाबू' का मानबोध बाबू - भैया का प्रभुनाथ वगैरह। इन चरित्रों की विशेषता होती है कि पूरी कहानी में ए पात्र व्यक्तिवाचक संज्ञा में उपस्थित होते हैं और कहानी से गुजर जाने के बाद भी उनका रूप पाठक के मस्तिष्क में अपरिवर्तनीय रहता है, क्योंकि वे परिस्थितियों के मध्य से गुजरते हुए भी खुद अपरिवर्तनीय रह जाते हैं। ऐसे चरित्रों का गठन घातदायी व्यंग, किसी बेरहम षडयंत्र के फाँस या व्यक्तिवादी व्यवस्था को उजागर करने के लिए ही लेखक बहुत सूक्ष्मता से करता है। कथा मीमांशकों का मानना है कि ऐसे पात्र अपने आप में सम्पूर्ण पात्रों की तुलना में बड़ी उपलब्धि नहीं होते। परन्तु जायसवाल का ही शायद कोई फ्लैट पात्र ऐसा है जो विशिष्ट नहीं हो सका हो। एकाद जरूर है, जैसे 'रावण रेखा'

का नौकर प्रसाद जो प्रभावोत्पादक नहीं बन पाया या फिर 'बाज़ार' का लेखक पात्र सुनील कुमार चौधरी और दादागिरी करता मंगल सिंह। मगर शताधिक कहानियाँ और आठ-नौ उपन्यासों को पूरा करने वाले पात्रों के सृजन में एकाद रूपांतरण तो संभव है ही।

इस विमर्श का अंत हम श्रीपत राय जी की जायसवाल जी के लिए उस उदगार से करेंगे जिसमें वे कहते नहीं, दस्तावेज पर लिख कर दे रहें हैं कि, 'उपन्यास मिलते ही पढ़ गया था। फिर दुबारा पढ़ा। बहुत सुंदर लेखन है। उसका दोष यही है कि बहुत अच्छा है और आज के परिवेश में उसे समझनेवाले बहुत थोड़े होंगे। यही तुम्हारी नियति है।' श्रीपत राय जिन्होंने प्रेमचंद को पिता के रूप में पाकर उनकी थाती के अधिकारी हुए, जो स्वयं कई-कई साहित्यिक कृत्यों के प्रणेता हैं, जिन्होंने 1953 से 1979 तक 'कहानी' जैसी यशस्वी पत्रिका का निर्बाध प्रकाशन करते हुए एक से एक धुरंधर और अनगिनत कथायश प्रार्थी लेखकों का सामना किया, उन्हें स्थापित करने का गौरव प्राप्त किया, वे यदि चंद्रकिशोर जी के लिए ऐसा कह रहे हैं तो कोई ठकुरसोहाती नहीं है यह। दम है इस उच्छाह में। लेखन को वे आध्यात्मिक साधना मानते हैं और कहते हैं कि, 'प्रत्येक चित्रलिपि अथवा रेखांकन जो मनुष्य के हाथों सृजित हुआ है, उसने इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के मिलन विन्दु पर ही कला का जन्म संभव है। प्रत्येक आकार, प्रत्येक रेखा, प्रत्येक आकृति वास्तविक जीवन का ही वह अंश है, परन्तु प्रत्येक कृति अभिलिखित होने की प्रक्रिया में उस मानस में से उपजी है जो उसके नियंता कलाकार का है।'

टी . एस . एलिएट भी कहते हैं कि , 'The



more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which create,”

दो महान साहित्यिक मनीषियों के उपरोक्त कथन में पात्र गठन और उसके पालन-पोषण के वे सारे निहितार्थ मौजूद हैं जिसके लिए मैंने इतना लम्बा विस्तार लिया है। जायसवाल जी की सफलता का राज भी, जहाँ तक मैं समझ पाया, यही है कि उनके भीतर का भुगतता प्राणी (पात्र

या चरित्र) और उनकी रचने वाली मनीषा (चरित्र गठन) बिल्कुल गुथम-गुथ होकर वह स्वस्व बनाते हैं जो 'मुँडे-मुँडे मतिर्भिन्ना' बनकर शीशे की पारदर्शिता में पाठकों का साक्षात्कार करता है। इसका कारण है कि वे खुद सम्पूर्णता में एक कथाकार हैं, न कि अपनी व्यवसायिकता में और न ही आकस्मिकता में।

अगला विमर्श, यदि अवसर और अवकाश ने स्वीकृति दी, तो जायसवाल जी की कहानियों के कथानक (plot) को लेकर होगा।

**संपर्क :** फ्लैट सं. 6, मेफेयर अपार्टमेंट, मंदाकिनी विहार के पास, शहस्त्र धारा रोड, देहरादून (उत्तराखंड), Mob No, 9717022082, Email : dduttapandey@gmail.com



## रचनालोक से निर्वासित अखिलेश का उपन्यास 'निर्वासन' योगेश तिवारी

लैटिन अमेरिकी बोर्खेस और मार्खेस दो ऐसे कथाकार हुए जिन्होंने अपनी कहन की अनोखी शैली से पूरी दुनिया के साहित्यकारों को प्रभावित किया। यह प्रभाव हिन्दी में भी देखने को मिला। कुछ रचनाकारों ने इस प्रभाव को भारतीय वातावरण में ढालकर अपनाया, कुछ ने सीधे-सीधे। प्रियम्वाद द्वारा लिखा गया उपन्यास छुट्टी के दिन का कोरस एक ऐसा उपन्यास है जिसमें मार्खेस के जादुई यथार्थवादी औपन्यासिक शैली को सीधे-सीधे अपनाया गया है। इसी कड़ी में अखिलेश के उपन्यास निर्वासन को भी रखा जा सकता है। हालांकि, छुट्टी के दिन का कोरस को वह प्रसिद्धि न मिली जो अखिलेश के 'निर्वासन' को मिली।

पचीस उपशीर्षकों से सजा निर्वासन अखिलेश का बृहद उपन्यास है। स्वयं अखिलेश ने निर्वासन को 'समय, समाज और भावनाओं की बेदखली का आख्यान' कहा है। इस आख्यान के केन्द्र में इक्कीसवीं सदी का पहला दशक है। इस केन्द्र के अतीत में 1857 तक की गूंज है तो भविष्य में आज़ादी की सौवीं सालगिरह के आस-पास देखने की कोशिश। ऐसा लगता है लेखक ने अपने अब तक के जीये जीवन के अनुभव, सोच-विचार, संवेदना और कल्पना को इस उपन्यास में गूंथने की पूरी कोशिश की है। अपनी इस कोशिश में लेखक बहुत हद तक सफल हुआ भी है। इस सफलता का भान खुद लेखक को भी है। इसलिए वह अपनी इस सफलता पर आत्ममुग्ध है। कुछ-कुछ उपन्यास की ही एक पात्र दादी की तरह। दादी जवानी के दिनों में अपनी सुन्दरता पर अति मुग्ध थीं। यह आत्ममुग्धता इस हद तक थी कि जब उन पर बुढ़ापे का आक्रमण शुरू ही हुआ था तब उन्होंने इससे लोहा लेने की भरपूर और असफल कोशिश की। बुढ़ापा उनपर हावी होने लगा। बुढ़ापे से पराजित होने के कारण और इस पराजय को रोज-रोज देखने से बचने के लिए उन्होंने आइने का त्याग कर दिया। अपना रूप खोना उन्हें बर्दाश्त न था। उम्र से लड़ाई में पराजय स्वरूप अपने शरीर पर आ गयी झुर्रियों को छिपाने के लिए दादी हर सम्भव कोशिश करती। वह अपनी इस पराजय को खुद के साथ-साथ दुनिया से भी छिपाना चाहती थी। बावजूद इसके दादी 'झुर्रियों और शिराओं के बीच किसी औरत की डिजाइन बन कर रह गई थी। निर्वासन 'कथा' को कहने के क्रम में जादुई यथार्थवाद और अपने संजोए समस्त ज्ञान के बामेल प्रस्तुति के कारण अखिलेश की स्थिति कुछ-कुछ दादी वाली ही हो गई है।

इस उपन्यास में कथा और शिल्प के साथ ही अपनी महत्वाकांक्षा को साधने के क्रम में लेखक के विचारों में शिथिलता और फाँक आ गई है। लेखक इस फाँक से अनभिज्ञ नहीं है। इसलिए, वह इस शिथिलता और फाँक को बहस और विमर्श से भरने की नाकाम कोशिश करता है। इस क्रम में लेखक उपन्यास में उन प्रश्नों का



किसी न किसी बहाने जवाब देने की कोशिश करता है जो विमर्शों के इस दौर में खड़े हो सकते हैं। ऐसा करने के क्रम में वह जरूरत से ज्यादा सावधान हो गया है। इस सावधानी में कई जगह वह जीवन की स्वाभाविकता खो बैठा है, ठीक दादी की तरह।

सूर्यकांत उपन्यास का वह पात्र है जिससे कथा के सारे सूत्र निकलते हैं या आकर उसमें मिलते हैं। इसलिए कथा को कोई भी मोड़ देने के लिए लेखक को सूर्यकांत से ही होकर गुजरना पड़ता है। इस क्रम में पूरी निर्वासन कथा मोटे तौर पर दो भागों में बंट गई है। कथा का एक हिस्सा वह है जिसमें खुद सूर्यकांत की अपनी जिन्दगी है। दूसरे हिस्से में सूर्यकांत से जुड़े लोगों की जिन्दगी है।

सूर्यकांत की अपनी जिन्दगी में उसका परिवार भी शामिल है। उससे जुड़े लोगों की जिन्दगी में मुख्य रूप से रामअजोर पांडे और संपूर्णानंद 'वृहस्पति' शामिल हैं। सूर्यकांत का मित्र बहुगुणा एक साथ ही सूर्यकांत की जिन्दगी के दोनों हिस्सों में आता-जाता रहता है।

पहले सूर्यकांत की अपनी जिन्दगी। उपन्यास में सूर्यकांत और गौरी पहले सहपाठी, फिर प्रेमी और उसके बाद पति-पत्नी के रूप में आये हैं। लेखक ने इन तीनों रूपों में उनके प्रेम-रूप को ही प्रधानता दी है। यहाँ लेखक ने अपनी लेखनी को सजीव करने की भरपूर कोशिश की है। प्रेम के छोटे-छोटे प्रसंगों का भी उसने बहुत ही रस लेकर चित्रण किया है। विशेषकर सूर्यकांत और गौरी के अंतरंग क्षणों के चित्रण में लेखक ने अपनी पूरी दक्षता दिखाने की कोशिश की है। गौरी अपने शरीर को अपनी इच्छा अनुसार ढाल लेती है। इसलिए वह अपनी उम्र से दस-बारह साल छोटी दिखती है। सूर्यकांत से प्रेम के निजी

क्षणों में वह अपने शरीर के अलग-अलग अंगों को मनचाहा आकार देकर सूर्यकांत को चौंकाती भी रहती है।

गौरी से अपने प्रेम के कारण सूर्यकांत को अपने घर से निर्वासित जीवन जीना पड़ता है। उसके घर वाले न सिर्फ गौरी को अस्वीकार करते हैं बल्कि उसे और गौरी को ठंड और कुहासे की रात में घर से बाहर भी खदेड़ देते हैं। सूर्यकांत को यह अपमान असहनीय लगता है। इसलिए वह फैसला करता है कि कभी भी अपने पिता के घर में वापस नहीं आएगा। पर वह वापस आता है। कई वर्षों बाद। गौरी की मर्जी के खिलाफ। परिस्थितियों का बहाना बनाकर।

यहाँ तक की सूर्यकांत की कथा में लेखक ने पूरी रोचकता भरने की कोशिश की है। पढ़ते समय ये सारे प्रसंग एक भावुक पाठक को रोचक लग भी सकते हैं। सम्भवतः ऐसे प्रसंगों के भावों में बह जाने के कारण ही लेखक कथा को जल्दी-जल्दी आगे बढ़ाता चला जाता है। इस चक्कर में वह कथा-प्रवाह में पाठक को, अनजाने ही सही, कई हिचकोलों का एहसास भी करवा देता है। इसका परिणाम यह होता है कि पाठक के लिए लेखक कई प्रश्नों को अनुत्तरित ही छोड़ देता है। कई प्रश्न लेखक के न चाहते हुए भी पाठक के मन में उठते चले जाते हैं। जैसे कि सूर्यकांत और उसके चाचा में गहरी छनती है। दोनों खून के रिश्ते से कम और मित्रता के रिश्ते से ज्यादा बंधे हैं। चाचा-भतीजा अपने जीवन की सारी बातें एक-दूसरे से साझा करते हैं। लेकिन जब सूर्यकांत अपनी प्रेमिका गौरी को पहली बार घर लेकर आता है तो इसकी जानकारी न तो वह चाचा को देता है और न ही घर के किसी और सदस्य को। ऐसा लगता है जिस तरह सूर्यकांत ने गौरी को अपने घर से छिपाया है उसी तरह अपने घर को



गौरी से छिपाया है। यह छिपाना इस तरह का है कि उसने गौरी के सामने अपने घरवालों की एक कल्पित छवि बनाई है। शायद इसीलिए गौरी सूर्यकांत के घर को अपना घर बनाने के लिए उसके साथ लखनऊ से सुलतानपुर आ जाती है। कहीं न कहीं अपनी इस बनाई छवि का शिकार खुद सूर्यकांत भी हो जाता है। अतः वह गौरी को इस उम्मीद से अपने घर लाता है कि उसके घरवाले उसे अपनाएँगे और अपने कलेजे का टुकड़ा बना लेंगे। शायद इसीलिए सूर्यकांत अपने जीवन के इतने बड़े फैसले की भी घरवालों को कानोंकान खबर तक नहीं होने देता। यह खटकनेवाली बात है। इसलिए भी कि बकौल लेखक 'सूर्यकांत का जब निर्वासन हुआ था उस दौर में इस परिवार की समस्या, संघर्ष और स्वप्न के केन्द्र में थे रोजगार और विवाह। अवध नारायण (सूर्यकांत के पिता) की जिन्दगी महज दो इच्छाओं पर टिकी थी। पहली इच्छा थी सूर्यकांत को एक ठीक-ठाक नौकरी मिल जाये। दूसरी ख्वाहिश नूपुर की शादी कर देने की थी।' नूपुर सूर्यकांत की बहन है। सूर्यकांत अपने पिता-परिवार की इन इच्छाओं को अच्छी तरह जानते हुए भी अपने उनको भरोसे में लिए बगैर ही अपनी प्रेमिका गौरी को सीधे घर पर ले धमकता है।

दूसरा प्रश्न कि जिस चाचा को उनके बड़े भाई अवध नारायण ने पढ़ाया-लिखाया, अपने बेटे सूर्यकांत के साथ ही उनकी नौकरी की चिंता भी उन्हें क्यों नहीं है? अगर यह कहा जाय कि चाचा की नौकरी लग चुकी है, फिर सवाल यह उठता है कि जिस चाचा की अपने भतीजे से इतनी पटती है वह उस भतीजे के लिए चिंतित क्यों नहीं है? अपनी नौकरी लगने पर अपने भाई की मदद करने की बजाय चाचा अपने भाई से

अलग क्यों हो जाते हैं? अगर अलग नहीं हुए हैं तो अवध नारायण की चिंता चाचा की भी चिंता क्यों नहीं है, खासकर तब जब चाचा को एक बौद्धिक, संवेदनशील, पठनशील और देश-दुनिया के बारे में लगातार सोचते रहने वाले चरित्र के रूप में लेखक ने चित्रित किया है। इसी तरह चाचा अक्सर सुलतानपुर से लखनऊ जाते रहते हैं पर लखनऊ में ही रहनेवाले अपने भतीजे से मिलने सिर्फ एक बार उसके घर जाते हैं। यहाँ लेखक ने यह सफाई दी है कि भतीजे की पत्नी यानी गौरी को अपने ससुरालवालों का 'मरा मुंह देखना भी पसंद' नहीं है। साथ ही बाद के दिनों में चाची खुद ही कार ड्राइव करके, चाचा को साथ लिए बगैर ही सुलतानपुर से लखनऊ जाने लगती हैं। इसलिए चाचा सूर्यकांत के यहाँ जाने से बचते हैं। घर से निकाले जाने पर चाचा ने भतीजे और बहू को रातभर अपने यहाँ पनाह दी थी। चाचा को आधुनिक और समय के साथ चलने वाला दिखाया गया है। इससे यह सम्भावना काफी बढ़ जाती है कि चाचा फोन पर सूर्यकांत की खोज-खबर लेते रहते। वे नहीं तो सूर्यकांत ही उनकी खोज-खबर लेता रहता। ऐसा होता नहीं है। कई वर्षों बाद जब सूर्यकांत चाचा से मिलता है तो ऐसे मिलता है जैसे कभी बिछड़ा ही न हो। यह मिलन खटकता है।

इसी क्रम में लेखक ने सूर्यकांत के चाचा की कहानी भी कहनी चाही है। चाचा सुलतानपुर में अपने वर्ग के लोगों में आधुनिकता के संवाहक और प्रतिनिधि माने जाते हैं। अपने और अपने परिवार को दुनिया के कदम से कदम मिलाकर चलते हुए देखना चाहते हैं। इसमें वह सफल भी हैं। लेकिन अपने परिवार यानी अपनी पत्नी और बच्चों की आकांक्षाओं और संवेदनहीनता से आजिज आकर वे स्व-निर्वासित जिन्दगी जीने लगते हैं।



खुद चाचा के ही शब्दों में कहा जाय तो वे 'यथार्थ समय से कट कर अपने निर्वासन में रहने' लगे। एक झोपड़ीनुमा दो कमरों के घर में अपनी दुनिया बसायी। यहाँ सारी चीजें पुरानी हैं। पुरानी पर आदिम नहीं। इतनी पुरानी जितनी चाचा ने अपने बचपन में देखी हों। सारी नई चीजों से चाचा को चिढ़ हो जाती है। इस बनावटी दुनिया से लोहा लेने का जो तरीका चाचा अपनाते हैं वह और भी अधिक बनावटी है। चाचा मिट्टी के चूल्हे पर बटुली में बना खाना खाते हैं। चटाई, सुराही आदि पुराने समय की चीजों का इस्तेमाल करते हैं। शराब वह देशी नहीं चुनते। वह सूर्यकांत द्वारा लाई महंगी शराब को ही प्राथमिकता देते हैं। लेखक ने इस अध्याय (या उपन्यास के इस खंड) का नाम गांधी जी के 'हिंद स्वराज' की तर्ज पर 'बतर्ज हिंद स्वराज' रखा है। क्या गांधी के स्वराज में शराब के लिए कोई जगह थी?

घर से बेइज्जत करके निकाले जाने के बाद सूर्यकांत पिता से घृणा करता है। गौरी और अपने अपमान का बदला लेना चाहता है। एक तरफ पिता से घृणा और दूसरी तरफ उपहार में पिता के लिए घड़ी! इतना ही नहीं, जिस सूर्यकांत को देश-दुनिया, पर्यावरण, पशु-पक्षियों को लेकर इतनी चिंता है वह घर से निकाले जाने के बाद अपने छोटे भाई-बहन और मां की कोई खबर नहीं लेता। उसकी दुनिया सिर्फ अपनी पत्नी और बच्चे तक ही सिमट गई है। घृणा पिता से है और बदला पूरे परिवार से? ऐसा लगता है कि बड़ी-बड़ी बातें करनेवाला सूर्यकांत पिता के प्रति अपनी घृणा की आड़ लेकर अपनी जिम्मेदारियों से बचता चला जा रहा है।

सूर्यकांत कई वर्षों बाद अपने घर सुलतानपुर वापस जाने पर घर के लोगों से इतनी सहजता से बात करता है मानो रोज ही उनसे फोन पर

बात होती रहती हो। जबकि ऐसा है नहीं। दस-बारह सालों से उसका अपने घरवालों से संवाद बंद है। कोई दस-बारह साल तक किसी से संवाद बंद रखे और अचानक सहज संवाद होना शुरू हो जाय यह स्वाभाविक नहीं है। दरअसल लेखक कथा को एक बुलेट ट्रेन की रफ्तार से लेकर चलता है जबकि कथा की पटरी छोटी लाइन की है। ऐसे में उपन्यास की स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

सूर्यकांत के बाहर के जीवन से जुड़े जिन लोगों का चित्रण मुख्य रूप से उपन्यास में किया गया है उसमें संपूर्णानंद 'बृहस्पति' और रामअजोर पांडे मुख्य हैं।

रामअजोर पांडे भारत आता है अपने पुरखों का गांव खोजने। लेखक के अनुसार कहा जाय तो अपने बाबा का गांव खोजने जो 'गिरमिटिया' मजदूर बनकर सूरीनाम जाने से पहले अपने पीछे छोड़ गये थे। पांडे के पास सिर्फ अपने बाबा के गांव का नाम है। अपनी समझ के अनुसार पांडे को लगता है कि वह गांव उत्तर-प्रदेश में है। गांव और गांव में अपने बाबा के छूट गये परिवार को ढूंढने की जिम्मेदारी वह सूर्यकांत को देता है। पांडे और सूर्यकांत के बीच की कड़ी है बहुगुणा।

रामअजोर पांडे के बाबा के परिवार की खोज करते-करते सूर्यकांत अपने परिवार के पुराने रूप को भी पाने की लालसा रखता है। वह सोचता है, 'मैं पांडे जी के परिवार को ढूंढने आया था या अपने खो चुके परिवार को फिर से पाने?' अपने ही क्यों गौरी के खो चुके पुरखों को भी पाने। उपन्यास के लगभग सभी पात्र अपने अतीत में अटके हुए हैं। वर्तमान से तालमेल न बिठा पाने के कारण अतीत का सुख भी उन्हें दुख ही देता है। सूर्यकांत, गौरी, चाचा, दादी,



भगेलू, रामअजोर और वृहस्पति लगभग सभी प्रमुख चरित्र अपने अतीत में अटके हुए हैं। अपने या अपनी परम्परा को जस का तस पाना चाह रहे हैं। यह इन पात्रों की व्यक्तिगत इच्छा है। एकदम निजी। आश्चर्य है कि उपन्यास का खल पात्र संपूर्णनानंद वृहस्पति इनसे अलग दिखता है। उसका सपना सतयुग को पुनः स्थापित करना है। यह स्वप्न भले ही प्रतिक्रियावादी हो, पर है एक सामाजिक स्वप्न। व्यक्तिगत नहीं। दूसरी ओर बाकी के सारे चरित्रों का स्वप्न व्यक्तिगत है।

‘निर्वासन’ ‘समय, समाज और भावनाओं की बेदखली का आख्यान’ कम है। अपने अतीत में खोये, अपने अतीत की एक मृगमरीचिका बनाए और उसे पाने के क्रम में हताश लोगों की कथा ज्यादा है।

समकालीन दौर में हिन्दी की अधिकांश रचनाएँ विमर्शों का शिकार हो रही हैं। हिन्दी की अधिकतर रचनाएँ साहित्यिक कम हो रही हैं, अमेरिका, पूंजीवाद, ब्राह्मणवाद आदि के खिलाफ नारेबाजी ज्यादा। इसका कारण क्या है? काशी का अस्सी वाले काशीनाथ सिंह की बोली में कहा जाय तो अमेरिका का राष्ट्रपति प्राचीन काशी का वह आदमखोर राजा है जिसे काशीवालों ने मार भगाया था। अपने समय की एक महत्वपूर्ण समस्या पर अंगुली रखते हुए बिना किसी नारेबाजी के काशीनाथ सिंह ने एक पुरानी लोक कथा में नया अर्थ भर दिया है। काशी का अस्सी पढ़ते हुए पाठक इस समस्या की टीस अपने भीतर महसूस करता है। यह काशीनाथ सिंह की साहित्यिक प्रतिभा और क्षमता है। यह साहित्यिक प्रतिभा और क्षमता सभी लेखकों में एक-सी हो ये जरूरी तो नहीं। यह ठीक है कि नवउदारवाद, भूमंडलीकरण की वजह से जहाँ हमें कई सुविधाएँ

मिली वहीं बहुत सी समस्याएँ भी खड़ी हुई। विशेषकर भविष्य के लिए। सबसे अधिक क्षति पर्यावरण की हुई। प्रकृति की हुई। प्रकृति के सबसे करीब रहने वाले लोगों की हुई। आज की किसी रचना में इन बातों का आना बहुत ही स्वाभाविक है। निर्वासन में भी इनका जिक्र है। लखनऊ से सुलतानपुर की यात्रा में सूर्यकांत सोचता है ‘गौरैया, बुलबुल, कबूतर, मैना, तोता, कोयलें सामूहिक संहार के लिए कहीं इकट्ठा की जा रही हैं या वे सामूहिक खुदकुशी के लिए किसी निर्जन स्थान में जमा हो रही हैं। ...बेघर परिंदों के घोंसलों के लिए ब्रह्माण्ड में जगहें खत्म होती जा रही हैं। जब वृक्ष, उनकी शाखें, उनके पत्ते नहीं होंगे तो चिड़ियां चहकेंगी कहाँ, फुदकेंगी कहाँ और रहेंगी कहाँ?’ ऐसी कई समस्याएँ हैं जिनका रचनात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के बदले लेखक वर्णन करता चलता है। किसी वक्ता की तरह। नतीजतन पाठक के मन पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेखक का कहना-लिखना पाठक रोज के जीवन में इतना सुन-देख-पढ़ चुका है कि उसकी आंखें पथरा गई हैं, कान शून्य हो गये हैं और मस्तिष्क सो चुका है। कोई रचनाकार तभी इन समस्याओं की ओर पाठक का ध्यान खींच सकेगा जब वह इनको देखने-दिखाने का कोण बदलेगा। समकालीनों में विनोद कुमार शुक्ल ऐसा करने में माहिर हैं। रोज-रोज के देखे हुए जीवन को वे एक नए कोण से दिखाते हैं। एकरसता की दीवार में उत्सुकता की खिड़की खोलते हैं। इसीलिए उनके लेखन की छाप पाठक के मन पर पड़ती है। अखिलेश निर्वासन में ऐसा नहीं कर पाते।

निर्वासन के स्त्री पात्र भी ध्यान देने लायक हैं। गौरी, दादी, नुपूर, कामना उपन्यास की वे स्त्री पात्र हैं जिनके अन्दर कोई न कोई



विशिष्ट गुण है। ठीक वैसे ही जैसे गाब्रिएल गार्सिया मार्खेस के चर्चित उपन्यास 'एकांत के सौ वर्ष' के कई पात्रों में है। जाहिर है निर्वासन के लेखक ने अपने स्त्री पात्रों पर जादुई यथार्थवाद का मुलम्मा चढ़ाना चाहा है। वह सफल भी हुआ है। पर मुलम्मा चढ़ा धातु कसौटी पर खरा नहीं उतरता। यही कारण है कि निर्वासन के स्त्री पात्र उपन्यास में आते ही पाठक को कुछ देर के लिए आकर्षित जरूर करते हैं। लेकिन उपन्यास खत्म होने के बाद जब पाठक याद करने बैठता है तो उसे याद आता है कि इन सारे स्त्री पात्रों का वैशिष्ट्य सिर्फ काम (sex) के मामले में ही है। यह चौंकाने वाली बात है। स्त्री के प्रति लेखक की सोच को ये स्त्री पात्र व्यक्त कर देते हैं। लेखक ने स्त्रियों के बारे में जो कहना चाहा है, उसकी गढ़ी हुई स्त्रियां भी अपने बारे में वैसा नहीं कहती। वे कुछ और ही कहती हुई नजर आती हैं। लेखक से भिन्न। ऐसा लगता है लेखक किसी विवाद में न फंसे इसकी पूरी कोशिश कर रहा है। यह 'कांससनेस' उसके लेखन और पात्रों की स्वाभाविकता को खत्म करता है। गौरी, दादी, कामना सब के सब सिर्फ काम के अंतरंग क्षणों में ही अपनी विलक्षणता का प्रदर्शन करती हैं। सिर्फ एक सूर्यकांत की माँ है जो प्रेमचंद के गोदान की धनिया की हल्की छाया लगती है। इस छाया में जीवन नहीं है। इसका कारण शायद लेखक का स्त्री के प्रति खुद का नजरिया है जो उसके बहुत दबाने के बाद भी उपन्यास में प्रकट हो रहा है। इसकी पुष्टि खुद लेखक की नूपुर के बारे में की गई टिप्पणी से हो जाती है, 'नूपुर संसार की उन चुनिन्दा स्त्रियों में से थी जो अपने पति के मस्तिष्क और दृश्य में लगातार एक रहस्य की तरह बनी रहती हैं। जिनका शरीर सुंदरता और भेद का ऐसा कथासरित्सागर

होता है जिसमें प्रसाधन की कोई कथा पूरी होने के पूर्व नयी कथा की सृष्टि कर देती है।' नूपुर अपने पति के मस्तिष्क के लिए कोई रहस्य है या नहीं पर लेखक के लिए स्त्री शरीर अवश्य एक रहस्य की तरह प्रतीत होता है। इस रहस्य को समझने और समझाने की हड़बड़ी में लेखक ने कई जगह भीषण गड़बड़ी पैदा कर दी है।

जाति को लेकर भी लेखक भ्रमित है। जाति व्यवस्था पर वह सूर्यकांत से बहुत ही चलताऊ टिप्पणियाँ करवाता है। मसलन रामअजोर पाण्डे को लिखे अपने पत्र (पढ़ें ई-मेल) में वह कहता है, आप ब्राह्मण हैं और आप की उपजाति पाण्डे है। ब्राह्मण जाति है या वर्ण है? लेखक को इसका भेद ही नहीं पता। फिर 'इस देश में बहुसंख्यक आबादी जो निःसंदेह हिन्दुओं की है वर्ण व्यवस्था के आधार पर विभाजित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें जो जिस वर्ण में जन्म लेता है उसी में मरता है। अपनी जाति का परिवर्तन किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव है।...प्रजापति को ही कुम्हार कहा जाता है और भारतीय वर्णव्यवस्था में वह पिछड़ी जाति में शुमार है।' वर्ण और जाति दोनों एक ही चीज नहीं होते। लेखक दोनों को एक ही अर्थ में व्यवहार करता है। प्रजापति या कुम्हार जाति व्यवस्था में भले ही ब्राह्मण और क्षत्रिय से नीचे के पायदानों में मानी जाती हो पर वर्ण व्यवस्था में उसे शूद्र तो हरगिज नहीं माना जाता। लेखक यहाँ अपना विवेक कम और विमर्श के अधिकचरे ज्ञान का सहारा ज्यादा लेता है। लेखक ने चालाकी से उपन्यास के अधिकतर पात्रों की जाति छिपा ली है। उपन्यास के एक चरित्र भगेलू पाण्डे उर्फ भगेलू प्रजापति अपनी जाति भले ही अनजाने में छिपा ले गये हों पर लेखक यह काम विमर्शकारों के प्रहार से बचने के लिए करता है। इसीलिए



अंग्रेजी शासन के जमाने का जिक्र करते हुए भी वह 'दलित' शब्द का प्रयोग करता है जो कि बहुत बाद का शब्द है। लेखक का बयान है कि गाँव में एक तरफ 'दलित बस्ती' थी। क्या गाँव की सभी दलित जातियाँ एक ही बस्ती में रहती हैं? उनमें आपस में कोई भेद-भाव या छुआ-छूत नहीं होता? लेखक इस मोटी जानकारी से भी अनभिग्न लगता है।

लेखक ने उपन्यास के शुरू में ही एक जगह लिखा है, 'इस आख्यान में अनेक बार पात्र स्वयं उपस्थित होकर अपनी बातें रखेंगे और कथाकार के अज्ञान, असमर्थता, अयोग्यता, अपर्याप्तता, अशुद्धि को दूर करेंगे।' अफसोस कि ऐसा हो नहीं पाता क्योंकि लेखक पात्रों की पीठ पर अपनी कलम और सोच की दुनाली ताने हरदम खड़ा रहता है।

शिल्प के स्तर पर देखा जाय तो लेखक ने यथार्थवाद, जादुई यथार्थवाद, समकालीन विमर्श और पुराने आख्यान शिल्प को मिला कर कुछ अनोखा रचना चाहा है। एक कहानी से दूसरी कहानी फिर दूसरी से तीसरी कहानी निकलती चलती है। यह पंचतंत्र और कथासरित्सागर की शैली का इस्तेमाल करने की कोशिश है। यह कोशिश सराहनीय होती अगर लेखक समकालीन विमर्शों के बड़बोलेपन में नहीं उलझता। उपन्यास अपने रूप में ज्यादा सुघर, छरहरा, आकर्षक और प्रभावी होता। प्रत्येक बात की व्याख्या करने की बजाय लेखक को पात्रों के चाल-ढाल और पाठक के विवेक पर ज्यादा भरोसा करना चाहिए था।

लेखक ने निर्वासन को भले ही आख्यान कहा हो पर कई जगह यह लेखक का व्याख्यान

हो गया है। व्याख्यान भी नीरस। आख्यान में लेखक या कथाकार को खुद कुछ नहीं कहना पड़ता। उसके पात्र और उनकी भंगिमा, हाव-भाव पाठक (या श्रोता) को सब कुछ बता देते हैं। आख्यान सहृदय के मन में धीरे-धीरे उतरता चला जाता है। अक्सर सहृदय को पता नहीं होता कि आख्यान ने उसके ऊपर अपना असर कायम कर लिया है। व्याख्यान में ऐसा बहुत कम होता है। व्याख्याता हर बात की व्याख्या करता चलता है। श्रोता उसकी कोई बात गलत न समझे, ठीक से समझे, यह बात उसके मन में चलती रहती है। रचनात्मक साहित्य आख्यान के करीब ही होना चाहिए, खासकर तब जब लेखक खुद अपनी रचना को 'आख्यान' की संज्ञा दे रहा हो। निर्मल वर्मा की कहानी पढ़ते समय पाठक अनायास ही एक उदासी से घिर उठता है। आश्चर्य यह कि निर्मल जी अपनी कहानियों में उदासी का जिक्र लगभग नहीं करते। यह बात किसी भी अच्छी साहित्यिक रचना पर लागू होती है। यह लेखक के शब्द और शिल्प को एक ही साथ साधने की अपनी क्षमता होती है। लेखक को अपनी इस क्षमता की सही जानकारी होनी चाहिए। ऐसा नहीं होने पर वह दुनिया की सारी समस्याएँ और उन समस्याओं से जुड़े अपने ज्ञान को रचना में दिखा देने की कोशिश करता है। इस तरह वह अपनी रचना को कमजोर करता चलता है। आज के हिन्दी के अधिकतर विमर्शकार यही कर रहे हैं। अफसोस कि कुछ रचनाकार भी उनके पीछे लगे चल रहे हैं। रचनालोक से खुद को निर्वासित करते हुए।

**सम्पर्क :** योगेश तिवारी, सहायक प्राध्यापक, ज़ाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, मो. 9711263905, Email : tyogeshh@gmail.com



## अमृता प्रीतम : प्रेम के पैराडाइज की अप्सरा, स्त्री उन्मुक्तता की बेमिसाल मिसाल

प्रीति सिंह

भारतीय साहित्य वाङ्मय का एक बेहद चमकीला नाम है - अमृता प्रीतम। स्त्री लेखन की परम्परा में अग्रिम पंक्ति में शुमार। प्रेम, त्याग और समर्पण की प्रतिमूर्ति। आधुनिक युग की मीरा और राधा का समन्वय। एक यशस्वी रचनाकार जिन्होंने जो जिया वो लिखा और जो लिखा वो जिया। मिसाल कि उन्होंने भरपूर लिखा। सौ से अधिक किताबें, कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, संस्मरण आदि साहित्य में ऐसे मानक के मानिन्द हैं जहाँ तक विरले पहुँच पाते हैं। सम्मान की यदि बात की जाये तो ज्ञानपीठ पुरस्कार, किसी भी महिला के लेखन पर पहला साहित्य अकादमी पुरस्कार, पंजाब रत्न, पद्म विभूषण, सर्वश्रेष्ठ गीतकार का सिने अवार्ड आदि से सजी उनकी झोली काफी वजनी है। वाकई अमृता, प्रीतम और प्रियतम द्वय के प्रेम हिंडोले पर ताउम्र झूलती-इतराती 86 वर्ष की एक लम्बी और वैभवपूर्ण जीवन जीते हुए दुनियाभर में अपने चाहनेवालों की एक लम्बी तादाद खड़ी की। उनकी स्मृति आज भी लोगों के दिलों पर राज करती है।

अमृता प्रीतम के लेखन की शुरुआत कवयित्री के रूप में हुई। महज 16 वर्ष की आयु में उनका पहला संकलन (पंजाबी भाषा में) प्रकाशित हुआ। 16 वर्ष की आयु में ही प्रीतम सिंह से विवाह-बंधन में बँधकर वह अमृता कौर से अमृता प्रीतम हो गयी। उन्होंने जीवन में कम झंझावात नहीं झेला। 11 वर्ष की आयु में माँ के निधन ने उन्हें बुरी तरह झकझोर दिया किन्तु अदम्य साहस का परिचय देकर तमाम विपरीतताओं, विघ्नों, बाधाओं पर विजय हासिल कर सफलता के सर्वोच्च शिखर का वरण की। उन्होंने एक साधारण स्त्री के रूप में जन्म अवश्य लिया किन्तु उनका जीवन असाधारण रहा। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व उससे भी कहीं ज्यादा असाधारण।

अमृता प्रेम की कविताओं की सशक्त हस्ताक्षर रहीं। उन्होंने कालजयी प्रेम कविताओं की रचना की। इनमें 'ऐ मेरे दोस्त', 'मेरे अजनबी', 'इक मुलाकात', 'मुकाम', 'सिगरेट', 'दाग', 'मेरा पता' आदि उल्लेखनीय कविताएँ हैं जो पाठकों के मन पर अमिट छाप छोड़ती हैं। लेखन के शुरुआती दौर में रोमांटिक कविताएँ लिखीं। विभाजन के पश्चात् स्थितियाँ बदल गयी, विषय बदल गये। यह हमारे समय का सबसे बड़ा सच है कि विभाजन ने जो लकीर धरातल पर खींची वह दो मुल्कों के लोगों के दिलों में हमेशा-हमेशा के लिए अंकित हो गया। विभाजन में हुए अमानवीय और हिंसात्मक व्यवहार देखकर



अमृता का मन दुख से द्रवित हो जाता है, वे वारिस शाह को सम्बोधित करते हुए 'अज्ज आखाँ वारिस शाह नूँ' कविता लिखती हैं। कविता की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं - 'आज वारिस शाह से कहती हूँ / अपनी कब्र में से बोलो / और इश्क की किताब का / कोई नया वरक खोलो... / धरती पर लहू बरसा / कब्रों से खून टपकने लगा / और मोहब्बत की शहजादियाँ / मजारों में रौने लगीं।'

यद्यपि उन्होंने यह कविता हृदय की पीड़ा में लिखी, किन्तु कविता ने उन्हें देश-विदेश में प्रसिद्धि दी। इस कविता को आज भी भारत और पाकिस्तान, दोनों देशों की सीमाओं में बराबर तवज्जुफ दिया जाता है।

भारत-पाक विभाजन के दंश ने आम जनता को भीतर तक दहला दिया। प्राकृतिक आपदाएँ इंसान के नियंत्रण में नहीं होती किन्तु मानवीय आपदाएँ अपवाद होनी चाहिए। देश, काल में आपदाएँ कम नहीं हैं। इतिहास रक्त-रंजित है। विभाजन का दर्द इनमें विरल, लोमहर्षक व बर्बरता की तमाम हदें पार करने वाले कृत्यों में सबसे ऊपर गिना जाएगा। इतिहास का एक काला अध्याय है - विभाजन की असहनीय पीड़ा। विभाजन में सबसे अधिक दुर्दशा स्त्रियों की हुई। दोनों ओर की स्त्रियों को उठाकर ले जाया गया और उनके साथ बलात्कार तथा हिंसात्मक व्यवहार किया गया। स्त्रियों की इस पीड़ा को उन्होंने निकट से देखा। इनकी दुर्दान्त स्थिति को उन्होंने अपने उपन्यास 'पिंजर' (1950) में उकेरा। जिस पर आगे चल कर एक अवार्ड विनिंग फिल्म भी बनी। इस उपन्यास की मुख्य पात्र पुरो के चरित्र को गढ़कर उन्होंने स्त्रियों की व्यथा को हमेशा के लिए लोगों के हृदय में अंकित कर दिया। उपन्यास में नायिका की व्यथा, त्रासदी झेलती

तमाम स्त्रियों की व्यथा थी। इसकी एक बानगी देखिए। पुरो कहती है - 'चाहे कोई हिन्दू लड़की है, चाहे मुसलमान, जो भी लड़की वापस ठिकाने पर पहुँच रही है, समझना कि उसमें पुरों की आत्मा ठिकाने पर पहुँच रही है।'

इनकी प्रसिद्धि का दूसरा सबसे बड़ा सबब इनकी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' रहा। इस आत्मकथात्मक उपन्यास के माध्यम से उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा, जीवन संघर्षों, उपलब्धियों एवं निज प्रेम की गहराई को जिस तरह से विस्तार दिया वह साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने सकारात्मक पक्षों को सत्य के धरातल पर खड़ा किया है। अपने प्रेम को जिस सादगी और ईमानदारी से उन्होंने स्वीकारा वह काबिले तारीफ है। वास्तव में, 'रसीदी टिकट' उनकी जीवन यात्रा में उनके अन्तर्मन के द्वन्द्वों, संघर्ष का तूफान, दुखों के असंख्य थपेड़े, विद्रोह का शोर, प्रेम और आसक्ति की तरंगें, सुख-ऐश्वर्य में धीरता और जीत की आतिशबाजियों का समुच्चय है। जीवन के उद्देश्य को उजागर करते हुए वे अपनी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' के फ्लैप में लिखती हैं -

'जिन्दगी जाने कैसी किताब है, / जिसकी इबादत अक्षर-अक्षर बनती है, / और फिर अक्षर-अक्षर टूटती, / बिखरती और बदलती है / और चेतना की एक लम्बी यात्रा के / बाद एक मुकाम आता है, जब / अपनी जिन्दगी के बीते हुए काल का / उस काल के हर-हादसे का, / उसकी हर सुबह की निराशा का, / उसकी हर दोपहर की बेचैनी का / उसकी हर सन्ध्या की उदासीनता का / और उसकी जागती रातों का / एक वह जायजा लेने का सामर्थ्य पैदा / होता है, जिसकी तशरीह में / नये अर्थों का जलाल होता है, और / जिसके साथ हर हादसा एक वह / कड़ी



बनकर सामने आता है, जिस / पर किसी 'मैं' ने पैर रखकर 'मैं' के / पार जाना होता है।'

अमृता, यौवन के दहलीज पर कदम रखते ही विवाह-बंधन में बंध मातृत्व सुख का वरण करती हैं। आगे बेमेल विवाह से समझौता करना सम्भव नहीं रहा और वे बंधन मुक्त हो जाती हैं। जमाने की परवाह किये बगैर साहिर से प्रेम करती हैं। किन्तु किस्मत में उनसे भी जुदाई ही लिखी होती है। इमरोज के अगाध प्रेम को स्वीकारती उनके साथ लिव इन रिलेशनशिप में उस दौर में रहती हैं जब यह प्रथा चलन में नहीं था। यहाँ मन में कई सवाल उमड़ते-घुमड़ते हैं। वैसे ही जैसे काले-सफेद आवारा बादलों के बेतरतीब पुञ्ज आसमान को स्याह करते उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं। आवारा बातों से उपजे आवारा सवाल। सवाल दर सवाल। आखिर अमृता किसकी थी प्रीतम की, जिससे विवाह हुआ। साहिर की, जिससे टूटकर प्रेम की, पर जिसे पा न सकी। या फिर इमरोज की जिसके साथ जमाने की परवाह किये बगैर लिव-इन-रिलेशनशिप चार दशकों तक अर्थात् जिन्दगी की आखिरी साँस तक रही।

सम्भव है, अमृता ने इन सारे सवालों के जवाब समय पर छोड़ दिए हैं कि वही तय करे। जिस तरह साँसों में समाती हवा उच्छ्वास उत्पन्न करती जीवन को पल-प्रतिपल आगे लिए चलती है वैसे ही अमृता अपनी साँसों के उच्छ्वास में प्रियतम की गर्मी महसूसती आगे बढ़ती रहीं।

प्रत्येक समाज के अपने ताने-बाने होते हैं, कसौटी होती है, चलन होता है, समाज में लोगों के ताने और लेखन को प्रभावित करने की तमाम कोशिशें हुई, वह अडिग रही। उन्हें नाकामयाब मोहब्बत की कामयाब शायरा तक कहा गया। फिर भी अपने जीवन मूल्यों और सिद्धान्तों से

जरा भी टस से मस न हुई। इन सब में इनकी लेखकीय प्रतिबद्धता सदैव इनके साथ बनी रही। जीवन के तमाम झंझावातों के बीच भी इस स्त्री ने कभी हार नहीं माना और उसी धमक, सकारात्मकता, सौम्यता एवं प्रेम के साथ उम्र के हर पड़ाव पार करती रही। अमृता विश्व साहित्य में ईमानदार, स्वाभिमानी, पाक दिल, नेक नियती के साथ बोल्लड महिला के रूप में उपस्थित हैं।

अमृता एक प्रगतिशील महिला रहीं, जिसने जिन्दगी अपने शर्तों में जिया। उन्होंने जिस युग को जिया, उस युग की वो थी ही नहीं। वो उस युग से कई युगों तक आगे की स्त्री थी। उनके विचार, उनका जीवन 20वीं सदी तक सीमित नहीं था, अपितु कई सदियों आगे तक का रहा। ऑर्थोडोक्स समय के समाज में उन्होंने स्त्री होकर (साठ के दशक में) उन्मुक्त और स्वच्छन्द जीवन जिया। कहा जाता है, प्रेम में व्यक्ति बंधता है। अमृता ने अपने जीवन का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध किया कि वह बंधन स्व का होता है, प्रेम का नहीं। प्रेम उन्मुक्तता देता है। साहिर के साथ प्रेम में वह स्व के बंधन में रही, प्रेम की पराकाष्ठा तक, किन्तु प्रेम का बोझ नहीं स्वीकार की। उन्होंने इमरोज के साथ प्रेम और स्वच्छन्दता को साथ-साथ जिया। एक स्त्री होकर अपनी कल्पनाओं को वास्तविक रूप में जीना, वो भी संकीर्ण समाज में, सिर्फ अमृता ही कर सकती है अन्यत्र यह दुर्लभ है।

अमृता का प्रणय रस से सराबोर जीवन के उन्मुक्त गगन में उड़ान भरने के पीछे इमरोज की प्रेरणा रही। वे कहती हैं—इमरोज एक दूधिया बादल है, चलने के लिए वह सारा आसमान भी खुद है और वह पवन भी खुद है, जो उस बादल को दिशामुक्त करती है...

अमृता ने यद्यपि साहिर से मुहब्बत की पर



उनका प्रेम जीवन इमरोज से पूरा हुआ। वो अगले जन्म में भी इमरोज के साथ ही रहना चाहती है। अपनी कविता 'मैं तुम्हें फिर मिलूँगी' में अमृता कहती हैं - 'मैं तुम्हें फिर मिलूँगी / कहाँ? किस तरह? नहीं जानती / शायद तुम्हारे तख्तिल की चिनगारी बनकर / तुम्हारी कैनवास पर उतरूँगी / या शायद तुम्हारी कैनवास पर / रहस्यमय रेखा बनकर / खामोश तुम्हें देखती रहूँगी।'

अमृता ने प्रेम की प्राण-प्रतिष्ठा उस दौर में स्थापित की जब प्रेम समाज में ढँका-मुंदा विषय होता था। लिव इन रिलेशनशिप तो वर्जित ही था। एक वर्जित स्त्री का कवच-कुंडल घूँघट से लेकर घर की चहार-दीवारी, किवाड़ के पट और तमाम तरह की सामाजिक वर्जनाएं थीं। स्त्री शिक्षा, स्त्री उन्मुक्तता, स्त्रियों की पसंद-नापसंद के कोई मायने न था। वास्तविक अर्थों में पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्रियाँ कैद थी, पुरुष दंभ और अहम के पिंजरे में या फिर ढोर-डांगर की तरह थोड़ी बहुत आजादी दिखाने पर कैद कर रखी जाती थी, कांजी हाउस में भूखी-प्यासी, मरी अधमरी सी।

स्त्रियों के हिस्से का यह डार्क साइड इतना डार्क रहा था जिसमें स्त्रियों की अपनी परछाइयाँ भी डार्कनेस में गुम रहती थी। यहाँ यह अमृता का साहस था जिसने, अपने सामने खड़े किये गये तमाम वर्जनाओं के पहाड़ ढहाती वायु वेग से बहती किसी प्रचंड नदी सी अपने लिए तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए मार्ग-प्रशस्त करती उत्तरोत्तर आगे बढ़ती रही। अमृता प्रीतम के व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए पाकिस्तान की मशहूर शायरा सारा शगुप्ता कहती हैं - 'अमृता ! तू न होती तो लिखने वाली सुहागिनें न होती, तू टांके न लगाती तो हमारे लिबास फटे रहते....।'

अमृता के जीवन में साहिर का विशिष्ट स्थान रहा है। साहिर से उनकी पहली मुलाकात 1943 में 'प्रीतनगर' के एक अदबी कांफ्रेंस और मुशायरा में हुई। पहली नजर में दोनों ने एक-दूसरे के प्रति आकर्षण और सम्मान का भाव महसूस किया। साहिर से अपनी पहली मुलाकात को अमृता ने कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है, 'उस मुलाकात के बाद मैं एक आग के दरिया में रात-दिन डूब और उतराने लगी थी।' बहरहाल कांफ्रेंस में दोनों ने अपनी-अपनी नज्में पढ़ी। उस मुशायरे में अमृता के हुस्न और नज्म दोनों की प्रशंसा हुई और साहिर पर इसका विशेष असर हुआ। यहाँ से प्रेम के रास्ते आगे की ओर खुलते चले गये। साहिर के प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम के सम्बन्ध में वे कहती हैं - 'यह तो महज कोरे-कागज की दास्तान है। इस दास्तान की इब्तिदा भी खामोश थी और सारी उम्र इसकी इतिहा भी खामोश रही।'

इमरोज के लिए अमृता का साहिर के प्रति दीवानगी मायने नहीं रखता था बल्कि उसके स्वयं के अमृता के प्रति दीवानगी के मायने अवश्य था। इमरोज अमृता के प्रेम में पागल था। वह अमृता को दिलोजान से चाहता था। अमृता इमरोज की पीठ पर अक्सर साहिर का नाम लिखती। इस बात का बुरा माने बगैर इमरोज कहते हैं, 'मैं जानता हूँ अमृता साहिर से प्रेम करती है, तो क्या हुआ मैं तो अमृता से प्रेम करता हूँ।' वास्तव में इमरोज, अमृता के लिए वरदान सा है। जिस प्रेम की तलाश अमृता जिन्दगीभर करती है, वह इमरोज पर आकर खत्म होती है। अमृता के जीवन के अधूरे प्रेम को इमरोज अपने प्रेम और समर्पण से पूरा करता है। अमृता कहती है- 'राही, तुम मुझे संध्या बेला में क्यों मिले? ... तुम्हें मिलना था तो जिन्दगी की दोपहर के समय



मिलते...।’

अमृता, इमरोज के निःस्वार्थ प्रेम को स्वीकारती हैं और पूरे जमाने से लड़कर वह इमरोज के साथ शेष जीवन लिव-इन-रिलेशनशिप में रहती है। इमरोज का उदात्त प्रेम अमृता के प्रति दीवानगी की सारी हदें पार कर जाता है। इमरोज के निष्कलुषित प्रेम की बारिश में भीगकर अमृता उसके प्रति समर्पित हो जाती है। जीवन के अंतिम पड़ाव में वह लगभग चालीस वर्षों तक इमरोज के साथ रही। इमरोज के प्रेम ने उन्हें उनके शेष जीवन की सारी वह खुशियाँ दी जिनकी

वे हकदार थी। यह भी सच है कि वैवाहिक जीवन में अमृता, अमृता कौर से अमृता प्रीतम हो गयी, इश्क में अमृता साहिर और अमिट प्रेम की विरल दास्तान में अमृता इमरोज हो गयी।

वाकई, प्रेम के पैराडाइज की अप्सरा, अमृता का वास्तविक रूप अमृता प्रीतम, अमृता साहिर और अमृता इमरोज के सम्मिलित चटख रंगों से उकेरी प्रेम के कैनवास पर मोनालिसा की डेढ़ इंच मुस्कान की प्रतिकृति सी है जो वास्तव में अप्रतिम अमृता प्रीतम का स्मरण कराती है और कयामत तक कराती रहेगी।

**सम्पर्क :** प्रीति सिंह, आसनसोल (पश्चिम बंगाल), मो. : 9563030374,  
ई-मेल : [pritisingh0295@gmail.com](mailto:pritisingh0295@gmail.com)



**प्रस्तावना**

चंद्रकांता हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका है। उनके द्वारा लिखित अंतिम साक्ष्य उपन्यास का दूसरा संस्करण, 2015 में अमन प्रकाशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित हुआ। जो लोग विवशताओं को अपनी शक्ति बनाना चाहते हैं, उन्हें यह उपन्यास लेखिका ने समर्पित किया है। चंद्रकांता का यह उपन्यास मात्र स्त्री विमर्श का रचना नहीं बल्कि इसे पारिवारिक विमर्श की रचना मानना अधिक मुनासिब होगा। चंद्रकांता ने अपने लेखन द्वारा जम्मू और कश्मीर के वातावरण को चित्रित किया है। वहाँ के सांस्कृतिक और आँचलिकता के रंगों को उपन्यास में भर दिया है। उनके अधिकतर उपन्यासों में कश्मीरी परिवेश का सफल अंकन हुआ है। वहाँ का जनजीवन, वहाँ की संस्कृति, वहाँ की प्रकृति को उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। लेखिका का बचपन कश्मीर की प्रकृति की छाया में बीता। इसलिए वह अपने-आप को भाग्यशाली मानती है। दो साल की नौकरी के बाद लेखिका स्वतंत्र रूप से लेखन कर रही है।

**भिन्न परिवेश की सच्चाइयाँ -**

अंतिम साक्ष्य उपन्यास जिस प्रकार मीना मौसी की कहानी है, वैसे ही वह बाऊ जी और बीजी के टूटते परिवार की कहानी है। लेखिका ने यह उपन्यास पूर्व दीप्ति शैली में लिखा है। पूरे उपन्यास में भिन्न-भिन्न परिवेश का चित्रण आया है। चाचा-चाची के घर की सच्चाई, बुढ़े लाला के घर की सच्चाई, जगन के घर की सच्चाई, शीलू के अड्डे की सच्चाई, संगीत शिक्षा की सच्चाई, संगीत मास्टर के जीवन की सच्चाई, मीना और प्रताप सिंह के संबंधों की सच्चाई, बीजी की मृत्यु के बाद की सच्चाई, बच्चों की आवारागर्दी की सच्चाई, प्रताप सिंह की मृत्यु के बाद की सच्चाई जैसी भिन्न-भिन्न सामाजिक परिवेश की सच्चाइयों का परिचय अंतिम साक्ष्य उपन्यास में मिलता है।

**1. चाचा-चाची के घर की सच्चाई -**

मीना एक अनाथ लड़की है। वह चाचा-चाची के घर कपड़े धोती, बर्तन मलती और छोटी-छोटी गलतियों पर गालियाँ और हाथों के कोड़े खाती, पूरी रात आँखों से आँसू निकालते आकाश निहारती रहती, नीले आकाश से आँख-मिचौली खेलते हुए सितारों से अपने माँ-बाप को संदेश भेजती है, 'तुम्हारी मीनू अकेली है माँ ! तुम्हारी मीनू रो रही है बापू! तुम मीनू की आवाज नहीं सुनते?' (पृ.14) इस तरह मीना हमेशा अपने माँ-बाप के साथ भगवान को भी कोसती रहती है। अनाथ मीना की एक भी बात चाचा-चाची नहीं मानते बल्कि चाचा-चाची जैसा चाहते हैं वैसा ही बर्ताव मीना को करना पड़ता है।



## 2. बुढ़े लाला के घर की सच्चाई -

एक दिन चाचा-चाची बारह साल की इस लड़की को पचास साल के विधुर के पल्ले बाँध देते हैं। शादी के बाद यह बुढ़ा आदमी जब मीना का घूँघट उठाता है, तब उसे नन्हीं मीना के चेहरे में उन्हें अपनी नन्हीं पोती का मुखड़ा दिखाई देता है। तब बुढ़े लाला को बहुत गुस्सा आता है। जब मीना इस बड़्हे के आँखों से आँखें मिलाती है, तब मीना के दीपों की लौ भक् से जलकर बुझ जाती है। शादी के बाद कई रात लाला ऊहापोह में रहता है। अब लाला का तीसरा बेटा भी मसैं भीगने के साथ ही जिस्म का मोल समझने लगा था। लाला अपने जवान बेटों की बुरी नजर से भयभीत था। इसलिए लाला उम्-भर की पूरी जमा पूँजी चाची को देकर मीना को वापिस घर लौटाता है। मीना और बुढ़े लाला के अनमेल विवाह की सच्चाई उपन्यास में सफलतापूर्वक चित्रित है।

## 3. जगन के घर की सच्चाई -

छह-आठ महिने बाद चाची के प्रयास को सफलता मिली। चाची मीना के लिए जगन नामक दूसरा दुल्हा ढूँढ़ लायी। इस बात की खबर मीना को लगते ही उसने चाची के पैर पकड़ लिए और कहने लगी, 'मुझे पड़ी रहने दो घर में चाची! सब काम करूँगी। खाना पकाऊँगी, कपड़े धोऊँगी, रात को तुम्हारे पाँव दाबूँगी।' 'तब चाची कहती है, 'हट पगली! अब अपने घर खाना बनाना। कोई लड़की कभी हमेशा अपने माँ-बाप के घर रही है? तेरी किस्मत अच्छी थी कि जगन ब्याह के लिए राजी हो गया। नहीं तो एक बार जो मंडप चढ़ी उसका हाथ कौन थामता है?' (पृ.16) मीना ने जब जगन को देखा तब उसे वह यमदूत जैसा ही दिख रहा था। शादी के बाद उसका 'अपना घर' जो बन गया था। जगन उसका

'अपना आदमी' था, अपना पति जो उसके तन-मन का संपूर्ण रूप से हकदार था। जगन मीना को सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी समझ रहा था। शादी के एक वर्ष बीतते ही जगन ने अपनी योजनाओं को कार्यरूप देना चाहा। जगन ने मीना को तवायफों का अड्डा चलानेवाली औरत को बेच दिया। वर्तमान युग में भी जगन जैसे लोगों से आज की नारी किस तरह शोषित है? यह लेखिका ने बताया है।

## 4. शीलू के अड्डे की सच्चाई -

एक दिन जगन पार्टी के बहाने मीना को लेकर मदनसिंह के घर जाता है। वहाँ से मीना, जगन और मदनसिंह टैक्सी में बैठकर शीलू के अड्डेपर जाते हैं। वहाँ मदनसिंह और जगन अभी आते हैं, कहकर मीना को वहीं पर छोड़ गए जो दुबारा वापिस नहीं आए। वहाँ के सजे-धजे कमरे, जालीदार पर्दे और वहाँ लटकते झाड़-फानूसों को वह अचंभित होकर देखती रही। दुल्हन से कमरों में एक अघेड़ महिला ने मीना का स्वागत किया। वह महिला सिर से लेकर बाल तक उसे निहारती रही। तब मीना ने महिला से मदनसिंह के बारे में पूछा। महिला ने कहा, 'आएगा, आएगा। तुम आराम से बैठो। इसे अपना ही घर समझो। यहाँ बहुत सखी-सहेलियाँ मिल जाएँगी। मन लगा रहेगा।' (पृ. 19) तभी कमरे की काँच वाली खिड़की से दो-चार लोग मीना को झाँक रहे थे। भद्दे हावभाव के साथ इशारे कर रहे थे, कुहनियाँ मार-मारकर कनबतियाँ कर रहे थे। मीना ने आखिर साहस बटोरकर महिला से कहा, 'मौसी ! मैं घर जाना चाहती हूँ।' घर शब्द के साथ उसे अपना झोपड़ीनुमा कमरा याद आ गया था। छोटी-सी रसोई, छोटे-छोटे बर्तन, कढ़ाई, चद्दर, अपना पति जगन याद आया। मीना ने घर जाने की जिद पकड़ ली। तब अड्डे की मालकिन



ने कहा, 'बिटो! यहाँ जो एक बार आता है? वापस नहीं जाता। इस घर के दरवाजों को सिवा अब सभी दरवाजे तुम्हारे लिए बंद हो गए। तुम्हें मदन दलाल ने नहीं बताया?' (पृ.19) यह बातें सुनकर मानो उसका रक्त प्रवाह रुक गया। उस दिन पहली बार मीना को अपने आप से नफरत हो गई थी। इस तरह शीलू के अड्डे का परिवेश लेखिका ने स्पष्ट रूप से चित्रित किया है।

### 5. संगीत शिक्षा की सच्चाई -

तवायफ अड्डे की मालकिन मीना के मासूम चेहरे पर तरस खा गई। उन्होंने मीना को धंधे में लगाने से पहले संगीत सीखने के लिए इजाजत दी। मीना को संगीत मास्टर के हवाले कर दिया और गाना सिखाने का आदेश दिया। एक-दो प्रकार की गजलों से ही संगीत मास्टर मीना की आवाज पहचान गए। एक दिन बाई के विश्वासपात्र मास्टर जी अपने मालकिन की अनुपस्थिति में मीना को लेकर शहर से बाहर चले गए। मीना भी बिना मुडकर देखे मास्टर जी के साथ चली गई। संगीत मास्टर मानो अपने आजतक के दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए मीना की सहायता कर रहे थे। सालभर में मीना को जितना सीखाया जा सकता था, उन्होंने सिखाया। वह भी दिन-रात मन लगाकर रियाज करती रही, मास्टर जी के प्रयासों को और अपने श्रम को सार्थक बनाने का काम कर रही थी। संगीत सिखते समय मीना अपने समस्त दुःखों को भूलकर अलौकिक आनंद उठा रही थी। इस प्रकार संगीत शिक्षा की सच्चाई लेखिका ने अपने उपन्यास में चित्रित की है।

### 6. संगीत मास्टर के जीवन की सच्चाई -

संगीत मास्टर एक सामान्य आदमी है। वह अपने छोटे से घर में पत्नी और दो बच्चों के साथ रहता है। मास्टर का पूरा परिवार काफी बुरी हालात में

अपना जीवन-यापन कर रहा था। परिवार के सभी सदस्य हप्ते भर मात्र एक वक्त का खाना खाकर अपनी साँसों को बरकरार रखने का प्रयास कर रहे थे। मास्टर जी संगीत की उपाधि लेकर नौकरी के लिए दर-दर भटकते रहे। काम की तलाश में उनका तन और मन टूटा था। तभी उनको अड्डे की मालकिन के साथ अपनी कला का सौदा करना पड़ा। सौदा नहीं भी करते तो परिवार के सदस्य भूखे मर जाते। अड्डे की तवायफों को कुछ चटपटा सिखाने के लिए उन्हें नियुक्त किया था। परिवार के अस्तित्व का प्रश्न और बाई के पास धन की कमी नहीं थी, इसलिए न चाहते हुए भी मास्टर जी को नौकरी के लिए समझौता करना पड़ा। इस प्रकार लेखिका ने गरीब परिवार की कठिनाइयों का वास्तविक चित्रण अपनी रचना में किया है।

### 7. मीना और प्रताप सिंह के संबंधों की सच्चाई-

मीना अपनी सहेली कैलाश के माध्यम से प्रताप सिंह से जुड़ गई और उसके बाद तो जुड़ने और जुड़कर टूटने में उसके साथ और लोग भी शामिल हो गए। मीना पहली बार सुरेश की मँगनी पर प्रताप सिंह के घर आई थी। वह इस समारोह में गज़ल गा रही थी और प्रताप सिंह संगीत के रसिया आदमी थे। बीजी और बाऊ जी का सुखी परिवार था। घर-गृहस्थी के सारे सुख परिवार के सभी सदस्यों को प्राप्त हो रहे थे। बाऊ जी मीना के संपर्क में आते ही दोनों में अनैतिक प्रेम संबंध स्थापित होता है। प्रताप सिंह के दिल का कोई खाली कोना फोड़े की तरह उन्हें दुख देने लगता है। इस बात का पता बीजी को होते ही वह मीना को सर्पिणी कहकर संबोधित करती है। जिसका जहर उसने उसके पति पर उकेरा था। इस घटना से बीजी जीते जी मर जाती है। अपने में होनेवाली कमी को तलाशते-तलाशते हमेशा



के लिए उनकी आँखें बंद हो जाती हैं। मीना के कारण ही उनका सुखी दाम्पत्य जीवन, दुख में तब्दील हो जाता है। पति का मीना के प्रति आकर्षण पत्नी को कमजोर बनाता है। इस प्रकार विवाह बाह्य संबंधों के कारण से भी परिवार टूटकर काँच के समान बिखर जाता है। आज भी समाज में ऐसे सुखी परिवार किसी तीसरे के आगमन से टूटते-बिखरते दिखाई दे रहे हैं। यह सच्चाई चंद्रकांता ने इस उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत की है।

#### 8. बीजी की मृत्यु के बाद की सच्चाई -

जैसे ही बीजी को पति के अनैतिक संबंधों का पता चलता है, वैसे ही उन्होंने बिस्तर पकड़ा। मामूली सा बुखार तपेदिक का रूप धारण कर गया। उसकी भूख मरती गई और शायद जीने की इच्छा भी। बीजी की मृत्यु से घर की एक ईंट क्या खिसक गई, लेकिन पूरा घर ही ढहने लगा था। उसकी की मृत्यु से केवल माँ की जगह खाली नहीं हुई, बल्कि घर की आत्मा भी घर छोड़कर चली गई थी। सभी नाते-रिश्तेदार अफसोस जताकर अपने-अपने घर चले गए। तब बाऊ जी पैरों में चप्पलें डालकर मीना मौसी को बुलाने चले गए। मीना मौसी घर तो आ गयी लेकिन बीजी न बन सकी। बीजी की मृत्यु के बाद बाऊ जी का घर जो टूट गया, सो अंत तक जुड़ न पाया। समाज की यह सच्चाई लेखिका ने उपन्यास में प्रस्तुत की है।

#### 9. बच्चों की आवारागर्दी की सच्चाई -

बीजी की मृत्यु के दोनों बच्चों ने हद कर दी। बड़ा बेटा सुरेश आवारागर्दी में अपना समय काटने लगा। छोटा बेटा विकी बिना खाये-पिये दोस्तों के यहाँ पड़ा रहता। माँ की मृत्यु के बाद बाऊ जी दफ्तर जाते ही वह घर में यार-दोस्तों की महफिलें जमाता। उसके स्वभाव में बेअदब

लापरवाही आ रही थी। वह जान-बूझकर घर में हंगामा खड़ा कर रहा था। प्रोफेसर गुप्ता ने सुरेश के आवारागर्दी की खबर बाऊ जी को दी तब वह अपने दो दोस्तों के साथ रामपुरी चाकू लेकर गुप्ता सर पर धावा बोल देता है। एक दिन वह घर छोड़कर दीवान साहब की बेटा को लेकर लापता हुआ। आवारागर्दी करने वाले सुरेश से बाऊ जी अधिक उम्मीदें नहीं थी; पर विकी के घर छोड़ने पर उन्हें काफी धक्का लगा था।

#### 10. प्रताप सिंह की मृत्यु के बाद की सच्चाई -

सुरेश को फौज में भर्ती हुए छह महीने भी नहीं हुए थे कि बाऊ जी की सड़क-दुर्घटना का तार मिल गया। वे तीन दिन मृत्यु से लड़ते रहे। फिर भी सुरेश घर नहीं आया। बाऊ जी के क्षत-विक्षत शरीर को देखकर वह भी अपने-आप को संभाल न पाया। पिताजी के जाने के बाद घर की स्मृतियाँ विकी को पीछे खींचती रही, पर विकी तो आगे बढ़ना चाहता था। नई जिंदगी जीने के लिए विगत की घटनाओं से कटना चाहता था। इसलिए मीना मौसी उसका हाथ पकड़कर उसे आगे बढ़ाती है। तब वह भी पीछे मुड़कर नहीं देखती, क्योंकि वह जानती हैं- कटना, जुड़ना, जख्मी होना सभी अनिवार्य है, जीने के लिए। जीवन की यह वास्तविकता चंद्रकांता ने अंतिम साक्ष्य उपन्यास में चित्रित की है।

#### निष्कर्ष -

‘अंतिम साक्ष्य’ चंद्रकांता का प्रारंभिक उपन्यास है। यह उपन्यास पारिवारिक विघटन और नारी द्वारा अपने अस्तित्व को बनाए रखने की कोशिश करनेवाले पात्रों की कहानी है। इस उपन्यास के पात्र टूटते हैं, बिखरते हैं और बड़ी उम्मीद से फिर से खड़े होने का प्रयास करते हैं। लेखिका ने इस उपन्यास में रिश्तों और प्रेम संबंधों को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास



यानी मीना मौसी की त्रासदी की कहानी है। इस उपन्यास में नारी के दर्दनाक जीवन को चित्रित किया है। यह उपन्यास भिन्न पारिवारिक परिवेश की सच्चाइयों से परिचित कराता है। पारिवारिक परिवेश की गहरी पकड़ चंद्रकांता के उपन्यासों की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। जो उन्हें समकालीन कथालेखन में अपनी एक अलग पहचान

देती है। कश्मीर का प्राकृतिक वर्णन इस उपन्यास की कथावस्तु को सजीव बनाता है। पारिवारिक विघटन की बात को लेखिका ने उद्देश्य तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास नारी की दर्दभरी व्यथा को चित्रित करता है। चंद्रकांता का यह उपन्यास विभिन्न परिवेश की सच्चाइयों को चित्रित करने में सफल रहा है।

**संपर्क :** संजय देसाई, सहायक प्राध्यापक, कर्मवीर हिरे महाविद्यालय, गारगोटी, जिला-कोल्हापुर (महाराष्ट्र), मो. : 9421287284, Email : sanjaydesai38@gmail.com



## जनपक्षधर लेखिकामेहरूत्रिसा परवेजकी कहानी 'सूकी बयड़ी' : एक सिंहावलोकन

सादिया परवीन

हिंदी कथा साहित्य की अग्रगण्य महिला कथाकारों में मेहरूत्रिसा परवेज़ का नाम भी शुमार है। परवेज़ एक ऐसी लेखिका हैं जिनके साहित्य में विमर्शों के खाके के बाहर के जीवन के अनुभवों को भी स्थान मिला है। उनकी व्यक्तिपरक संवेदनाओं के क्षितिज में जीवन के कई दृश्य शामिल हैं। परवेज़ जी का जन्म 10 दिसंबर 1944 को मध्यप्रदेश में हुआ। मात्र 19 वर्ष की आयु में ही उनकी पहली कहानी 'पांचवीं कब्र' का प्रकाशन कमलेश्वर द्वारा संपादित पत्रिका 'नई कहानियाँ' में हुआ। तब से लेकर आज तक उनकी रचनाशीलता बनी हुई है। अब तक इनके 14 कहानी संग्रह और 5 उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। एक महिला कथाकार होने के नाते इनकी कहानियों में भी महिला से जुड़ी समस्याओं का विशेष रूप से चित्रण है। इनके स्त्री पात्र कई मामलों में विद्रोह भी करते हैं जो स्वाभाविक है क्योंकि स्वातंत्र्योत्तर भारत में नए विचारों का आगमन हुआ जिसने समाज की विकृतियों के प्रति विद्रोह को जन्म दिया और इस विद्रोह में नारी का स्वर भी उभरकर सामने आया।

उनकी कहानी 'सूकी बयड़ी' वर्ष 2002 में प्रकाशित कहानी संग्रह 'समर' में संकलित है। प्रस्तुत कहानी में परवेज़ ने उस विवाहिता की स्थिति को दर्शाया है जिसका कोई बच्चा नहीं होता है। इसके साथ ही इस कहानी में मुख्य रूप से खेतिहर मजदूर और बंधुआ मजदूर की स्थिति और समस्या को भी उजागर किया गया है। इन समस्याओं से जुड़ी अन्य समस्याएं एवं उसके कारण भी दृष्टिगोचर हैं। कहानी में प्रवेश करने पर सबसे पहले हमारी भेंट नीमड़ा से होती है जो एक खेतिहर मजदूर है। खेतिहर मजदूर सामंती युग की देन है जो आज तक चलते चली आ रही है, बल्कि इनकी संख्या में दिन प्रतिदिन वृद्धि ही हो रही है। साप्ताहिक पत्रिका 'इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली' में 25 जून 2012 को छपे आलेख 'एग्रीकल्चर वेजेज इन इंडिया' में ए. वी. जोश द्वारा दिए गए आंकड़ों के अनुसार -1951 से 2011 के बीच कृषि में लगनेवाली श्रम शक्ति में खेतिहर मजदूरों की संख्या का अनुपात 28% से बढ़कर 56% हो गया है। इनकी संख्या तो निरंतर बढ़ रही है किंतु आज भी ये सबसे अधिक गरीब, पिछड़ा और शोषित वर्ग हैं। दूर-दूर तक गांव व क्षेत्रों में बिखरे होने के कारण वे भू-स्वामियों से अपनी मजदूरी के संबंध में सौदा करने में असमर्थ होते हैं। फलतः वे भू-स्वामियों के शोषण के शिकार भी होते हैं। सरकार की दृष्टि भी ऐसे मजदूरों पर कमतर ही पड़ती है। उनके सुधारात्मक योजनाओं में वे उपेक्षित ही होते हैं। पीके गुप्ता खेतिहर मजदूरों की स्थिति को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि 'कृषि सुधार की किसी भी



योजना में कृषि श्रमिकों को शामिल न करना देश की अर्थव्यवस्था में एक भयंकर घाव को बिना मरहम पट्टी के छोड़ देने के समान है। खेतिहर मजदूर के जीवन की सबसे बड़ी विडंबना है यह है कि उसका सारा जीवन खेती करते हुए गुजरता है, वह दिन-रात भूमि की सेवा करता है, उस जमीन पर अनाज उगाता है और धरती पर पड़ने वाली पहली बारिश की बूंदों के साथ उठनेवाली सुगंध महसूस करता है, किंतु उस भूमि या अनाज पर तनिक भी उसका अधिकार नहीं है। परवेज़नीमड़ा के माध्यम से ऐसे मजदूरों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहती है कि 'दूर तक खेत ही खेत है, ढेर सारे खेतों की सरहद के किनारे बसे नीमड़ा का अपना एक भी खेत नहीं था'।

कहानी का शीर्षक 'सूकी बयड़ी' प्रतीकात्मक रूप से नीमड़ा की बड़ी बेटी थोरा के जीवन पर प्रकाश डालता है। नीमड़ा की तीन बेटियां और एक बेटा है थोरा, होरा, फूलाँ और टेसूआ। थोरा का विवाह तय होनेवाला है किंतु लड़के का पिता अपने तीनों बेटों के साथ नीमड़ा की बेटियों की शादी करने का प्रस्ताव रखता है। नीमड़ा की पत्नी इस प्रस्ताव से राजी नहीं होती। वह तीनों बेटियोंको एक साथ विदा नहीं करना चाहती। अंततः बातचीत दो लड़कियों की शादी पर तय होती है। होरा दुखी है क्योंकि उसे किसी और के साथ शादी करनी थी लेकिन बड़ी बहन की शादी के लिए उसके अरमान पर पानी फिर गया। दोनों की शादी हो जाती है। थोरासांवली है जबकि होरा गोरी। थोरा का सांवलापन उसकी जिंदगी की खुशियों के एक बड़े हिस्से को गहरा धक्का पहुँचा रहा है। वस्तुतः यह हमारे पुरुष वर्चस्ववादी समाज की देन है जिसमें पुरुष का रूप, रंग, शारीरिक बनावट चाहे जैसी भी हो किंतु उसे पत्नी के रूप में किसी अप्सरा का ही सपना आता है। पुरुषवर्चस्ववादी मानसिकता स्त्रियों

के गुणों की अपेक्षा रूप और रंग को अधिक महत्व देती है। थोरा भी इस मानसिकता की भेंट चढ़ती है। शादी की पहली रात को ही उसके हृदय पर आघात होता है। उसका पति कोठरी में घुसते ही कहता है 'तेरी बईण तो राणी रूपमती है। मेरा भाई बड़ा भाग्यवान है'।

वस्तुतः हमारे समाज में लड़कियों के लिए सांवलापन या कालापन किसी शारीरिक अपंगता जितना ही बड़ा अभिशाप है। ऐसी लड़कियों के जन्म पर दुख और अफसोस जताया जाता है। शरीर के ये रंग लड़कियों को हीन महसूस करने को बाध्य करते हैं, उनके आत्मविश्वास को खत्म करते हैं और उनके व्यक्तित्व को बेरहमी से कुचलते हैं। कई बार यह अभिशाप तो उसे मृत्यु के मुँह में भी धकेल देता है। बीबीसी हिंदी में 26 जून, 2020 को मनीषा पांडे रिपोर्ट करती है कि राजस्थान में एक महिला ने अपने पति द्वारा बार-बार काली कहे जाने पर आत्महत्या कर ली और मेडिकल कॉलेज में टॉप करने वाली लड़की ने फांसी लगाकर आत्महत्या कर ली, क्योंकि वह अपने सांवले रंग पर शर्मिन्दा थी। हालांकि वर्तमान में अपने अधिकारों के प्रति जागरूक महिलाओं के दस्ते ने समाज की इस मानसिकता पर आघात किया जिसका प्रभाव हमें बाजारू उत्पाद से लेकर फिल्मी दुनिया तक देखने को मिलने लगी है। हिंदुस्तान युनिलीवर कंपनी को अपने उत्पाद 'फेयर एंड लवली' का नाम बदल कर 'ग्लो एंड लवली' करना पड़ा। फिल्मी दुनिया के गानों में प्रेमिका की तारीफ़ में शब्द 'चौदवी का चाँद' और 'गोरी है तू हृद' से चलकर 'साँवली सलोनी' तक आ गई है।

'सूकी बयड़ी' की थोरा की समस्या केवल उसके सांवलेपन पर खत्म नहीं होती है। शादी के बाद उसकी बहन होरा मां बनती है लेकिन थोरा को कोई बच्चा नहीं जन्मता है। उसके पति को बहाना मिलता है और वह एक दूसरी स्त्री ले



आता है। सौत के आने से थोड़ा का जीवन शून्य हो जाता है। उसके पति का अब उसके प्रति कोई फर्ज नहीं। थोड़ा दिनभर कोठरी में कैद रहती है। बहन उसको वहीं खाना दे जाती है। वास्तव में हमारे समाज ने विवाह पश्चात एक स्त्री का अंतिम लक्ष्य संतान उत्पन्न करना ही निर्धारित कर दिया है और यदि ऐसा नहीं हुआ तो उसे महसूस कराया जाता है कि उसका जीवन व्यर्थ हो गया है।

किसी दंपति को बच्चा नहीं होने के कई कारण हो सकते हैं, किंतु प्रथम दृष्टया इसके लिए स्त्री में दोष होना मान लिया जाता है जिससे एक विवाहिता की स्थिति ससुराल में दयनीय हो जाती है। परिवार में उसकी भागीदारी और सम्मान कमतर होने लगते हैं। मध्यवर्ग और उच्चवर्ग तो इलाज के माध्यम से अधिकतर इस समस्या से निदान पा लेते हैं या कई बार पुरुषों की अक्षमता का पता लग जाता है, किन्तु निम्न वर्ग की स्त्रियां सहज ही इसका शिकार होती हैं। थोरा की भी स्थिति ऐसी ही है, क्योंकि उसके पति को दूसरी पत्नी से भी संतान प्राप्त नहीं होती है।

कहानी की एक बड़ी समस्या नीमड़ा के बेटे टेसूआ के माध्यम से प्रतिपादित की गई है जो बंधुआ मजदूरों से संबंधित है। नीमड़ा को अपनी दोनों बेटियों की शादी के लिए पैसों की आवश्यकता है जिसे पूरा करने के लिए वह अपने बेटे को लेकर सेठ दांगीलाल के पास पहुँचता है। वह एक हजार रुपये में अपने बेटे को एक वर्ष के लिए बंधक मजदूरी के लिए रखने के लिए आया था लेकिन मजदूरी दो वर्ष के लिए तय होती है। सेठ ने ऐसे कई लोगों को बंधक बना रखा है जिससे वह मनमाना काम लेता है, यहाँ तक कि पुलिस प्रशासन से मिलकर चोरी और डकैती भी करवाता है।

सामान्यतः भारत में बंधुआ मजदूरी गैर कानूनी है और पूर्णतया प्रतिबंधित है। सरकार ने

बहुत पहले ही बंधुआ मजदूरी की रोकथाम के लिए 'बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम, 1976' पारित किया था। 'न्यूनतम मजदूरी अधिनियम' 1948 से ही लागू है। इसके साथ ही 'अंतर्राज्यीय प्रवासी कामगार अधिनियम, 1979' पारित हुआ जो मजदूरों की सेवा स्थितियों से सम्बंधित है। सरकार के इन सभी प्रयासों के बावजूद भी बंधुआ मजदूरी की स्थिति बनी हुई है। एक गैर-सरकारी संगठन **International Justice Mission** के अनुसार सबसे अधिक उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के श्रमिकों को उनकी इच्छा के विरुद्ध गैर-कानूनी रूप से बंधक बनाकर कार्य करवाया जा रहा है। सामाजिक क्षेत्र के विशेषज्ञों ने बंधुआ मजदूरी की नए रूप में पहचान की है जिसे 'आधुनिक दासता' की संज्ञा दी गई है। आधुनिक दासता एक शोषणकारी प्रकृति को इंगित करता है जिसमें एक व्यक्ति को धमकी, हिंसा, धोखा और शक्ति के बल पर काम करने के लिए मजबूर किया जाता है। इसमें मानव तस्करी जैसे शोषणकारी कार्य भी शामिल हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा 2018 में जारी 'वैश्विक दासता सूचकांक' के अनुसार जहाँ पूरे विश्व में लगभग 4 करोड़ व्यक्ति आधुनिक दासता में बंधे हुए हैं वहीं भारत में यह संख्या 80 लाख के करीब है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेहरून्निशा परवेज़ ने इस कहानी के माध्यम से जहाँ एक ओर स्त्री से सम्बंधित समस्याओं पर प्रकाश डाला है वहीं दूसरी ओर खेतिहर मजदूर की दीनता और बंधुआ मजदूर के जीवन संघर्ष को सामने रखा है। 'सूकी बयड़ी' भूमि के किसी उठे हुए भाग को कहते हैं जो ऊँची तो होती है पर उस पर पानी नहीं रुकता। थोरा प्रेम, सहानुभूति, क्षमा जैसे उच्च गुण की धनी है फिर भी उसके जीवन में सूनापन ही शेष बचा है।

**संपर्क :** SADIYA PRAVIN, ASSISTANT PROFESSOR, KHANDRA COLLEGE, Add-C/O-Good Luck Tailor, Sripur No -2, P.O-Sripur Bazar, Dist-Paschim Bardhaman, Pin-713373, Mob no-8918064819, Email-sadiyap11@gmail.com



## जीवन और उसकी गति के कहानीकार : शेखर जोशी

प्रेम कुमार साव

कोई भी साहित्यकार अपने परिवेश और समाज से ही पल-बढ़कर बड़ा होता है। वहाँ के लोग, वहाँ की प्रकृति, वहाँ की जलवायु, वहाँ की संस्कृति; हर कुछ लेखक के साहित्य में दिखलायी पड़ता है। उस परिवेश, उस समाज से ही उसका साहित्य पोषित होता है। अपनी सहज और सरल भाषा में कहानियाँ लिखने वाले शेखर जोशी के साहित्य में हमें इसका दर्शन होता है। उत्तराखंड के अल्मोड़ा में जन्मे शेखर जोशी पहाड़ी जीवन-दर्शन के एक सशक्त साहित्यकार हैं। पहाड़ से होने के कारण इनकी कहानियों में पहाड़ी लोगों का दुख-दर्द, प्रेम, स्नेह आदि दिखलाई पड़ता है। साथ ही कई वर्षों तक कारखानों से जुड़े रहने के कारण वहाँ के मजदूरों की पीड़ा भी हमें इनकी कहानियों में देखने को मिलती है। डॉ. रामचंद्र तिवारी इस संबंध में ठीक लिखते हैं.. 'आपने अपनी कहानियों में पहाड़ी और ग्रामीण जीवन की विविधता, दर्द और संघर्ष को सहानुभूति के साथ व्यक्त किया है। आपके जीवन का बहुत बड़ा भाग कारखानों में बीता है। इसलिए आप मजदूरों के संघर्ष और पीड़ा का पारदर्शी चित्रण करने में अद्वितीय हैं।'¹

'दाज्यू' 1953 में प्रकाशित उनकी पहली कहानी थी जिसने शेखर जोशी की तरफ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। इस छोटी सी कहानी में संवेदना का भरमार है। साथ ही बाल श्रम के यथार्थ को इस कहानी में दिखाया गया है। संवेदना की धरातल पर लिखी गई यह कहानी समाज के लोगों की दोहरेपन को उद्घाटित करती है। मदन होटल में काम करने वाला एक बालक है। जगदीश बाबू दूर देश से आए हैं। जैसा की कहानी में लिखा गया है.. 'जगदीश बाबू दूर देश से आए हैं। चौक की चहल-पहल, कैफे के शोरगुल में उन्हें लगता है सबकुछ अपनत्वहीन है।'²

कहानी में हम देखते हैं कि एक व्यक्ति जो अभी-अभी शहर में आया है। अकेलापन उसे काट खाने को दौड़ता है। ऐसे में मदन जो होटल में काम करता है, से उनका आत्मीय संबंध जुड़ जाता है। यही कारण है कि मदन जगदीश बाबू को 'दाज्यू' (बड़े भाई साहब) कहकर पुकारता है। मदन जब जगदीश बाबू को दाज्यू कहता है तब उसे एक विशेष प्रकार का लगाव महसूस होता है। लेखक के शब्दों में कहें तो.. 'मदन 'दाज्यू' शब्द को उतनी ही आतुरता और लगन से दुहराता जितनी आतुरता से बहुत दिनों के बाद मिलने पर माँ अपने बेटे को घूमती है।'³

लेकिन धीरे-धीरे जगदीश बाबू का अकेलापन खत्म हो जाता है। वह शहर में ढल जाते हैं। अब मदन से कोई लेना-देना नहीं है। उसका बार-बार



दाज्यू कहकर पुकारना उन्हें अच्छा नहीं लगता। कहानी की यह पंक्तियाँ देखिए... 'दाज्यू' शब्द की आवृत्ति पर जगदीश बाबू के मध्यमवर्गीय संस्कार जाग उठे- अपनत्व की पतली डोरी अहं की तेज धार के आगे न टिक सकी।<sup>4</sup> 'दाज्यू' शब्द पुकारना अब उन्हें उनकी प्रेस्टीज पर लगने लगा है- 'यह दाज्यू-दाज्यू क्या चिल्लाते रहते हो दिन-रात किसी की 'प्रेस्टीज' का ख्याल भी नहीं है तुम्हें।'<sup>5</sup>

आज के शहरी जीवन की विडंबना है कि लोग संबंधों के महत्व को भूलते जा रहे हैं। काम पड़ने पर वे लोगों को याद करते हैं और यदि काम न रहे अथवा काम हो जाय तो उन्हें भूल जाते हैं।

श्रमिक जीवन पर शेखर जोशी की अनेक कहानियाँ हैं। जैसे बोझ, आखरी टुकड़ा, गलता लोहा, उस्ताद, मेंटल, आशीर्वचन आदि। 'बोझ' कहानी के माध्यम से यह दिखाया गया है कि एक श्रमिक की इच्छा से किसी को कोई लेना-देना नहीं होता है। उसकी इच्छा का कोई अर्थ नहीं होता है। 'मेंटल' कहानी में हम देखते हैं कि एक कारखाना के कामगार को सब मेंटल घोषित कर देते हैं। वह मेंटल या पागल है नहीं, पर उसका सबके सामने बड़े आदमी यानी बी.ओ.साहब को चोर कहना ही उसके मेंटल होने का प्रमाण साबित हो जाता है। मेंटल कहानी में दो वर्गों के व्यक्तियों के चरित्र को दिखाया गया है। जब कथानायक को चोर कहा जाता है तो वह आक्रोश से चिल्लाने लगता है-

'आपने मुझे चोर कैसे कहा, साहब?'

'आपने मुझे चोर कहा?'

'मैं चोर हूँ?'<sup>6</sup>

यह कहने के साथ ही कथानायक चिल्लाने लगता है.. 'चोर मैं हूँ कि आप हैं? यह थैला मेरा बन रहा है कि आपका?'<sup>7</sup> साहब सबके सामने

यह सब सुनकर कुछ समझ नहीं पाते हैं और अपनी पोल खुलती देखते रह जाते हैं। कथाकार बड़े ही मंझे तरीके से कारखाने के माहौल को अपनी कहानी में चित्रित कर देते हैं। लेखक ने यह स्पष्ट रूप से दिखलाने की कोशिश की है कि बड़े लोग कुछ भी कर सकते हैं और गरीब मजदूरों को फँसा सकते हैं।

शेखर जोशी की एक प्रसिद्ध कहानी 'बदबू' है इस कहानी में एक तरफ जहाँ कारखाना के मालिकों का श्रमिकों के उपर हो रही तानाशाही को दिखलाया गया है वहीं दूसरी तरफ एक व्यक्ति किस प्रकार अपनी परिस्थितियों का शिकार होता चला जाता है और अंततः उसे उस परिस्थिति में ढलना पड़ता है, का वर्णन किया गया है। कहानी में हम देखते हैं कि कथानायक जो अभी-अभी कारखाने में काम करने आया है, जब खाने जाता है तो हाथ को साबुन से मल-मल कर धोता है क्योंकि उसकी हाथों से कैरोसिन की बदबू आती है यही व्यक्ति कहानी के अंत में उस बदबू का आदी हो जाता है। जैसा कि लेखक ने दिखलाया है.. 'सहसा एक विचित्र आतंक से उसका समूचा शरीर सिहर उठा। उसे लगा जैसे आज वह भी घासी की तरह इस बदबू का आदी हो गया है। उसने चाहा कि वह एक बार फिर से हाथों को सँघ ले लेकिन उसका साहस न हुआ। परंतु फिर बड़ी मुश्किल से वह दोनों हाथों को नाक तक ले गया और इस बार उसके हर्ष की सीमा न रही। पहली बार उसे भ्रम हुआ था। हाथों में कैरोसिन तेल की बदबू अब भी आ रही थी।'<sup>8</sup> यह कहानी हमें सिखाती है कि हम भले लाख कोशिश कर ले परिस्थितियों से भागने का, पर हमें परिस्थितियों के अनुसार ढलना ही पड़ता है।

कारखानों के जीवन का शेखर जोशी की कहानियों में जैसा चित्रण मिलता है वैसा अन्यत्र



दुर्लभ है। शेखर जोशी के यहाँ अपना अनुभव है जिसके कारण उन्होंने इतना सहज और सरल चित्र प्रस्तुत किया है। लेखक स्वयं स्वीकार करते हैं.. 'मेरे जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग कारखानों में बीता है। जहाँ तेल और कालिख में सने कपड़ों में ऐसी विभूतियाँ छिपी थी। जिन्होंने मेरी जिन्दगी को एक नया ही अर्थ दे दिया। यह मेरा आत्मीय संसार बन गया। हमारी रचनात्मकता, हमारे संघर्ष, हमारी खुशी और हमारा दर्द सब साझा था। यहीं मुझे 'उस्ताद' मिले जो न चाहते हुए भी अंतिम क्षणों में अपने शगिर्द को काम का गुर सिखाने को मजबूर थे। यहीं हाथों की 'बदबू' में मैंने जिजीविषा की तलाश की। यहीं ईमानदार लेकिन 'मैटल' करार दिए गये लोग थे। यहीं विरोध की आखिरी चिंगारी लिए 'जी हजूरिया' किस्म के लोग थे। यहीं 'नौरंगी मिस्त्री' था और यहीं मैंने श्यामलाल का 'आशीर्वचन' सुना और इन सबको अपनी कहानियों में अंकित कर पाया।'<sup>9</sup>

स्त्रियों की दशा और बाल विवाह की समस्या को दर्शाती है शेखर जोशी की एक छोटी सी कहानी है 'गोपुली बुबु'। इस छोटी सी कहानी के माध्यम से लेखक बड़ी बातें कह जाते हैं। कहानी में लेखक गोपुली बुबु के जरिए बाल विवाह पर व्यंग कसते हैं 'झगुली पहनने की उम्र में ब्याह हो गया था। चकमक पत्थरों से गुड़ी खेलते, परत पतेल लाते, ढोरों को चराते, पूजा-साज करते एक दिन साथियों ने कहा-मँगसिर में तेरा ब्याह होगा। रंग बिरंगा घाघरा-ओढ़नी पहनने, हाथ-पांवों में पहुँची-झाँझर खनकाने की मन में बड़ी हवस रही। दुल्हन बनने का मतलब क्या होता है इसका तो ज्ञान था ही नहीं।' <sup>10</sup>

इस कहानी में यह भी दिखाया गया है कि गाँव-देहात में माता-पिता अपनी बेटियों का विवाह गरीबी के कारण कहीं भी, किसी भी व्यक्ति से

कर देते हैं। वह चाहे अघेड़ उम्र का हो, लंगड़ा-लूला हो अथवा पागल हो। कहानी में गोपुली बुबु के साथ यही हुआ था। गोपुली बुबु कहती है.. 'तब कुछ अकल नहीं थी भाउ! लोग कहते थे इसके आदमी पर देवता लगा है। मैं सोचती देवता तो अच्छे ही हुए। वे कभी-कभी बंदर की तरह छल्लाँग लगाते, कभी वैसे ही चिचियाते। जब थोड़ी अकल आई तब मैंने जाना कि मुझे पागल की पूँछ से बाँध दिया गया है।' <sup>11</sup>

शेखर जोशी की कहानियों का अध्ययन करते हुए हम देखते हैं कि इनकी कहानियों में स्त्रियों का दर्द, मजदूरों का दर्द, पहाड़ी जीवन, संस्कृति, प्रेम आदि सब कुछ दिखाई पड़ता है।

प्रेम और त्याग पर आधारित इनकी एक कहानी है 'कोसी का घटवार'। 'कोसी का घटवार' शेखर जोशी की कालजयी कहानी है जो एक तरफ जहाँ प्रेम और त्याग की प्रतिमूर्ति है तो दूसरी तरफ स्त्री की दयनीय दशा, गरीबी और अकेलापन को भी दर्शाती है। साथ ही इस कहानी में एक फौजी के जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस कहानी के संबंध में कमलेपार 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियाँ' पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं.. 'शेखर जोशी की कहानी 'कोसी का घटवार' में भारत का सीधा-साधा सभ्य समाज दर्शाया गया है उसकी अलग दुनिया है जिसमें वह निश्छल प्रपंचहीन जीवन व्यतीत करता है। ये कहानी मूलतः भावबोध की यथार्थवादी कहानी है। इनके पात्र बुद्धि या अनुभव के धरातल पर संवेदना के गहरे बोध को आधार बनाते हैं और गहरी चोट खाकर भी इतने गहरे मनुष्य बने रहते हैं।' <sup>12</sup> कहानी हमें बताती है कि गुँसाई और लक्ष्मण दोनों एक दूसरे से प्रेम करते थे। विवाह भी करना चाहते थे लेकिन गुँसाई जो फौज में जाना चाहता है, से लछमा के पिता ने



यह कह कर विवाह करवाने से मना कर दिया कि.. 'जिसके आगे-पीछे भाई-बहिन नहीं, माई-बाप नहीं, परदेश में बंदूक की नोक पर जान रखने वाले को छोकरा कैसे दे दें हम?'<sup>13</sup>

आगे हम देखते हैं कि गुँसाई नौकरी पर चला जाता है। लछमा का विवाह करा दिया जाता है। उसका जीवन तबाह हो जाता है। गुँसाई नौकरी समाप्त होने के बाद एक आटा पीसने की दुकान खोल कर गुजारा करता है। उसका कोई नहीं है। जिसके साथ जीने-मरने का वादा किया था वह तो किसी और की हो गई। वह अकेला है। यह पंक्ति देखिए .. 'कभी-कभी गुँसाई को अकेलापन काटने लगता है। सूखी नदी के किनारे का यह अकेलापन नहीं, जिंदगी भर साथ देने के लिए जो अकेलापन उसके द्वार पर धरना देकर बैठ गया है वही। जिसे अपना कर सके ऐसे किसी प्राणी का स्वर उसके लिए नहीं।' <sup>14</sup>

वह स्मृतियों के सहारे कुछ याद करना है। वह चाहता है कि साथ कोई होता तो कितना अच्छा होता।.. 'आज इस अकेलेपन में कोई होता, जिसे गुँसाई अपनी जिंदगी की किताब पढ़कर सुनाता! शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर, कितना देखा, कितना सुना और कितना अनुभव किया है उसने।' <sup>15</sup>

लछमा से जब अचानक गुँसाई की मुलाकात होती है और उसका हाल चाल जानना चाहता है तब लछमा कहती है.. 'जिसका भगवान नहीं होता उसका कोई नहीं होता। जेठ-जेठानी से पिंड छुड़ा कर यहाँ माँ की बीमारी में आई थी, वह भी मुझे छोड़ कर चली गई। एक अभागा मुझे रोने को रह गया है, उसी के लिए जीना पड़ रहा है। नहीं तो पेट पर पत्थर बाँधकर कहीं डूब मरती, जंजाल कटता।' <sup>16</sup>

इस कहानी में हम देखते हैं कि एक तरफ

जहाँ एक व्यक्ति अकेलेपन में जीवन व्यतीत कर रहा है वहीं दूसरी तरफ एक स्त्री है जिसका विवाह होता है फिर भी उसके लिए इस संसार में कोई नहीं है। यह एक मार्मिक कहानी है जो असफल प्रेम की दास्तान होते हुए भी दो प्रेमियों के पुनः मिलन को दिखलाता है और वहाँ कहानी और मार्मिक बन जाती है। खूबसूरत बन जाती है जब लछमा गुँसाई के दिए हुए आटा गूँद कर रोटी बनाती है और गुँसाई द्वारा उसके पीसे हुए आटे में कुछ और आटा मिला देता है ताकि कुछ दिन और उसका गुजारा हो सके।

शिल्प की दृष्टिकोण से भी शेखर जोशी की कहानियाँ अनुपम हैं। पहाड़ी जीवन को दिखलाने के लिए उन्होंने अपनी कहानियों में पहाड़ी भाषाओं का प्रयोग किया है और उनकी कहने की शैली भी कुछ-कुछ पहाड़ी जैसी ही है। उनकी पहली ही कहानी दाज्यू थी। यह दाज्यू शब्द पहाड़ी शब्द है। इसी प्रकार आमजन की भाषा में शेखर जोशी लिखते हैं। आशीर्वचन कहानी की एक पंक्ति है 'जो जाँगर चलाता है वह जानता है काम की कीमत।' <sup>17</sup> इसी प्रकार इसी कहानी की एक पंक्ति है.. 'ओ रे! वो ताड़ीबाज छोकरा कहाँ गया, बुलाओ उसको।' <sup>18</sup> इस प्रकार के शब्दों और पंक्तियों का प्रयोग एक तरफ जहाँ कहानी को आकर्षक बनाता है वहीं दूसरी तरफ कहानी में एक नई जान भर देता है।

नई कहानी के दौर में कहानी लिखने वाले शेखर जोशी के यहाँ कहानी कहने की कला अलग है। इनकी कहानियाँ छोटी-छोटी होते हुए भी शिल्प के कारण बड़ी और श्रेष्ठ हो जाती हैं। एक तरफ जहाँ हम देखते हैं कि इन्होंने दाज्यू जैसी छोटी सी कहानी लिखकर इस आधुनिक समाज में संबंधों के बिखराव को दिखलाया है वहीं दूसरी तरफ उसी कहानी में



बाल श्रम के यथार्थ को भी दिखलाया है। साथ ही बदबू कहानी में श्रमिकों के यथार्थ को दिखलाया है। और भी अनेक कहानियों में इन्होंने श्रमिक जीवन के यथार्थ का चित्रण किया है। साथ ही संवेदना इनकी कहानियों में हमेशा प्रवाहित होती रहती है। इस दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि संवेदना और यथार्थ की धरातल पर इनकी कहानियाँ अच्छी तरह से फलती-फूलती है और पाठक के हृदय में अपने स्थान बनाती हैं।

**सन्दर्भ ग्रंथ :-**

- 1) तिवारी रामचंद्र, हिंदी का गद्य इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तेरहवाँ सं वही स्करण-2020, पृष्ठ संख्या-408
- 2) जोशी शेखर, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2018, पृष्ठ संख्या-07
- 3) वही, पृष्ठ संख्या-09
- 4) वही
- 5) वही
- 6) वही, पृष्ठ संख्या-129
- 7) वही
- 8) वही, पृष्ठ संख्या-139
- 9) जोशी शेखर, मेरा लेखन: मेरा परिवेश, आधार प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 10-11
- 10) जोशी शेखर, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2018, पृष्ठ संख्या- 59-60
- 11) वही, पृष्ठ संख्या-60
- 12) कमलेश्वर, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियाँ, भूमिका पृष्ठ-17
- 13) जोशी शेखर, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2018, पृष्ठ संख्या-19
- 14) वही, पृष्ठ संख्या-18
- 15) वही, पृष्ठ संख्या-20
- 16) वही, पृष्ठ संख्या-24
- 17) वही, पृष्ठ संख्या-94
- 18) वही, पृष्ठ संख्या-95

**संपर्क :** प्रेम कुमार साव (शोधार्थी), ग्राम - कोटा चंडीपुर, कोटा मोड़, पानागढ़, 713420  
जिला- पूर्व बर्द्धमान, पश्चिम बंगाल, मो. : 8972559339, Email-  
premkumarshaw657@gmail.com



इन दिनों गैंगटोक से प्रकाशित होने वाला हिन्दी दैनिक 'अनुगामिनी' कभी हमारे नगर हाजीपुर का अखबार हुआ करता था। वैशाली जनपद के सुल्तानपुर गाँव के निवासी चंद्रकेत सिंह जी के दिमाग की उपज था यह अखबार। वे कलकत्ता में रेलवे में राजभाषा अधिकारी थे, वहीं से साप्ताहिक कलेवर में इसका प्रकाशन भी शुरू किया था। सेवानिवृत्ति के बाद जब अपने घर लौटे तो साथ इस अखबार को भी ले आए। हाजीपुर के एस.डी.ओ. रोड स्थित मोहनी मोहन शर्मा जी के मकान में इसका दफ्तर और छापाखाना खुलवाया, तीन से चार दर्जन निकम्मों को काम पर लगाया।

आलोचक नंदकिशोर नवल और युवा कवि संजय शाण्डिल्य के संपादन में प्रकाशित कविता संग्रह 'जनपद विशिष्ट कवि', उन कवियों को समर्पित है जिन्होंने वैशाली जनपद की जमीन पर कविता के बीज बोए। उन्हीं में से एक कवि महावीर प्रसाद शर्मा 'विप्लव', पत्रकारिता की गहरी समझ रखने वाले पत्रकार रत्नेश कुमार, सुरेन्द्र मानपुरी और तब के नाबालिग अखबारनवीस चंद्रभूषण सिंह 'शशि' इस अखबार से जुड़े हुए थे। विप्लव जी अखबार के मुलाजिम नहीं थे। कला-संस्कृति-साहित्य के लिए पन्ना भर सामग्री जुटा देना और अपने मनमाफिक कुछ लिख देने भर की ही जवाबदेही थी उनके पास-बदले में प्रबंधन भी उनकी जेब में कुछ न कुछ हथउठाई रकम रख दिया करता था। अखबार के पाठक न के बराबर थे। लेकिन उसकी प्रतियाँ साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं और सरकारी दफ्तरों में रोज दिख जाया करती थीं।

इप्ता और ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फेडरेशन से गहरे जुड़ाव के कारण इसके कार्यक्रमों के प्रचार-प्रसार की जिम्मेदारी मेरी थी, सो डायरी में कोई न कोई रपट या समाचार दबाए मैं हमेशा अखबार नवीसों की खुशामद में लगा रहता था। अपने गृह प्रखंड जंदाहा में इप्ता के बैनर तले असगर वजाहत रचित प्रसिद्ध नुक्कड़ नाटक 'सबसे सस्ता गोश्त' की प्रस्तुति करवाई और ठीक दूसरे दिन उसकी रपट लिखकर बिहार के विभिन्न शहरों से निकलने वाले तमाम छोटे-बड़े अखबारों के संवाददाताओं को ढूँढ़ता उन गलियों-मुहल्लों की ओर चल पड़ा, जहाँ उन सब के ठिया या घर थे। अंत में 'अनुगामिनी' के दफ्तर भी पहुँचा। 'विप्लव' जी को इस कमरे से उस कमरे तक ढूँढ़ा, कहीं दिखे नहीं वे। थक-हार कर कुर्सी पर बैठे हुए एक अनजान आदमी से पूछा,

'विप्लव जी नहीं आए हैं?'

नज़र उठाकर उन्होंने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा, फिर मेरे हाथ से



रपट की प्रति छीन ली। जो कुछ भी लिखा था मैंने उसे सरसरी निगाह से देखते हुए उन्होंने मुझसे पूछा, 'तुमने लिखा है?'

मैं उत्तर में 'हाँ' कह खड़ा रहा चुपचाप।

वर्तनी दोष से लेकर वाक्य विन्यास की त्रुटियों पर उन्होंने मुझे डाँटा। फिर बाप-भाई, पढ़ाई-लिखाई से जुड़े दर्जनों सवाल किए और जैसे ही पता चला उन्हें कि मैं गीति कवि हरिहर प्रसाद चौधरी 'नूतन' का बेटा हूँ, उनकी वाणी मधु से भी मधुर हो गई।

'जाओ, अच्छे से छाप देंगे इसे. और हाँ, बाप को कह देना शलभ आ गया है इस नगर में। यहीं रहेगा अब।'

फिर अखबारी कागज़ के एक पन्ने पर घर का पता-ठिकाना लिखवाया, रूट चार्ट बनवाया और चार तह में मोड़ कर रख लिया उसे अपने कुर्ते की जेब में।

रपट चुल्हीभाँड़ में जाए . कौन हैं ई शलभ, बाबूजी को कैसे जानते हैं...? सोचते हुए निकल पड़ा और अपनी साइकिल अस्पताल रोड स्थित डॉक्टर बिजली सिंह के क्लिनिक के सामने खड़ी कर दी। जोर से भूख लगी थी। सामने वाली गली में घुस कर बालेसरजी की दुकान पर लिट्टी और चटपटी घुघनी दबाकर खा लिया। क्षुधा तृप्ति के बाद बिजली चाचा के क्लिनिक में सुस्ताने बैठा। मुफ्त की चाय भी मिल गई यहाँ। चाय चुसकते 'अनुगामिनी' दफ़्तर वाले वाक्ये को हूबहू उन्हें सुनाने लगा। मैं बके जा रहा था, वे मरीजों का नुस्खा? लिखते हुए सिर्फ हूँ-हाँ कर रहे थे। महिला मरीज़ हो या पुरुष, डाक्टर साहब सबका नाम-गाँव पूछते हुए उससे कोई न कोई रिश्ता कायम कर लेते थे, फिर नुस्खे पर जहाँ नाम लिखा जाता है मरीज का, वहीं कायम रिश्ते को ही दर्ज कर दे रहे थे। साले बाबू,

समधिनी जी, सरबेटा लिखते हुए उन्हें पहले कई दफ़े देखा, आज धरहरा वाली भुज्जाइ लिखकर वे अति प्रसन्न दिख रहे थे। इस रस रंजन काल में मुझे ऐसा लगा कि डॉक्टर साहब मेरी व्यथा कथा सुनने के मूड में बिल्कुल नहीं हैं सो, एकाएक चुप हो गया मैं। मेरी चुप्पी पर वो तुरंत बोले,

'सब सुन रहा हूँ। बोलते जाओ...'

मैं अपनी अधूरी कथा फिर से शुरू कर समापन तक पहुँच गया। सब कुछ सुन लेने के बाद डॉक्टर साहब ने शलभ नामक प्राणी का परिचय दिया, 'एकदम तूफानी कवि है, अजब गजब किस्से हैं उसके। बाप से बतियाना न, बहुत बताएगा ऊ। एक बात और, उसके झाँसे में कभी नहीं आना।'

डॉक्टर साहब के मुख से अजब गजब किस्से और झाँसे जैसे शब्द सुनकर मेरी बेचैनी और बढ़ गई। वहीं तय कर लिया, अब तो इस कवि के जीवन में ताक-झाँक करूँगा ही...

( दो-तीन दिन बाद )

चूल्हे पर तवा गर्म हो रहा था। लालटेन की मद्धिम रोशनी में बाबूजी रोज की तरह गोल-गोल रोटी बेल रहे थे। चूल्हे से उतर कर ठंडी हो रही कड़ाही से आलू-बैंगन- मूली-टमाटर...की मिश्रित गरम गंध फैलनी शुरू हो गई थी। चर्चा छेड़ दी मैंने,

'शलभ श्रीराम सिंह इसी नगर में हैं। पता है?'

'हाँ, हृदयेश्वर बताये थे। दो हफ्ते पूर्व ही तो।'

'उनसे मिला था। मुझसे दीधी का पता ठिकाना लिखवाया उन्होंने।'

बाकी बातें न कहीं। डाँट-डपट वाली कथा सुनाकर खुद को और जलील क्यों करवाता?

( करीब दो-ढाई हफ्ते बाद )



शाम चार बजे के आसपास समोसा खाने की इच्छा प्रबल हो गई। घर से दस फर्लांग की दूरी पर अवस्थित उस झोपड़ी में पहुँचा जिसमें राम सबुज राय चाय नाश्ते की दुकान चलाते थे।

राय जी ने पूछा, 'कुछ खइबऽ का?'

उन्हें हाँ तो कह दिया लेकिन मेरी नज़र सड़क के उस पार चली गई अचानक। रिक्शे पर शलभजी की कद-काठी का एक आदमी दिखा। रिक्शा स्कूल की तरफ मुड़ गया। अरे, कहीं वही तो नहीं हैं। इस आशंका से भूख बिल्कुल मर गई। मैंने तुरंत अपनी 'हाँ' को 'ना' में तब्दील कर दिया और धीरे से अपने घर की ओर ससर गया। सिर्फ इसलिए कि आज हमारी पढ़ाई-लिखाई की कलई खुलने वाली है। शलभ जी बाबूजी से जरूर कहेंगे आज, तुम्हारा बेटा पढ़ने-लिखने में एकदम फिसड्डी है, बहुत अशुद्ध लिखता है। जरा ध्यान देकर इसे वर्तनी और वाक्य-विन्यास का ज्ञान दो। नाटक-नौटंकी से परहेज करे अभी - कहो उसे। ऐसा सोचते मन में एक और खयाल आया - उनके यहाँ पहुँचने के पूर्व ही निकल भागता हूँ किसी दोस्त के घर।

दुविधा की स्थिति बनी रही। कमरे में घुस कर खिड़की पर खड़ा चौकन्ना हो गया। कुछ ही क्षणों में मेरी आशंका सच हो सामने आ गई। चाय की दुकान और पान की गुमटी के बीच वाली सकरी गली में खड़े दिखे कवि जी। अब राय जी भी उनके सामने दिख रहे हैं। दोनों बतिया रहे हैं। मेरा घर ढूँढ़ रहे होंगे पक्का। लो, चल चुके अब। पहुँच गए। सीढ़ियाँ चढ़ते हुए लड़खड़ाने लगे महाशय। मैंने दौड़ कर उन्हें सहारा दिया। सहारा न देता तो गिर जाते अभी। नाक मुँह फूट जाता उनका।

'शाबाश! ऐसे ही दिनों के लिए बेटा पैदा

करता है बाप, कहाँ है तुम्हारा बाप?'

बरामदे में एक कुर्सी लगा दी। दस कदम दूर पान की गुमटी की ओर ताका। बाबूजी बीड़ी-सलाई खरीद कर इधर ही आ रहे थे। आते ही हुलसकर मिले उनसे। पूछा, 'प्यारे, कैसा लग रहा है हाजीपुर नगर? बीड़ी लाने गया था, तुम्हारे लिए सिगरेट मँगवाता हूँ।'

'अरे इगरेट सिगरेट छोड़। ला एक बीड़ी आज इसे ही सुलगाता हूँ। मेरी अपनी कोई औकात नहीं। तू अपनी औकात के अनुरूप ही मेजबानी कर ले न मास्टर।' ठहाकों के बाद उन्होंने बाबूजी के पहले सवाल का उत्तर भी दिया, 'ढेरों बदतमीज़ हैं तुम्हारे नगर में।'

फिर दो-तीन लोगों को छूटकर गालियाँ देते रहे। वे गालियाँ बक रहे थे और मैं बाबूजी के इशारे पर उनके लिए चाय-नाश्ते के प्रबंध में निकल रहा था, उसी राय जी की दुकान की ओर जहाँ से बिना समोसा खाए लौट आया था अभी।

माँ, गाँव का घर संभालती थी। बाबूजी हाई स्कूल की मास्टरी करते हुए जो तनख्वाह पाते थे, उसमें से राशन पताई भर के पैसे रख शेष माँ के हाथ में रख आते थे हर माह। स्वपाकी थे। दाल-भात, रोटी-तरकारी के अलावे चूल्हे पर कुछ भी नहीं चढ़ता था। पिता से मिलने आए हर आगंतुक के लिए चाय-नाश्ते की आपूर्ति राय जी के ही जिम्मे थी। राय जी निरक्षर थे। चाय की आपूर्ति करने के बाद गत्ते के एक पुराने टुकड़े पर खड़ी रेखा खींचते थे और समोसे, आलूचप की आपूर्ति बिठाते थे रोज। हर हफ्ते खड़ी रेखा को गिना करता मैं- फिर 25 और 50 पैसे के गुणक में जितना रुपया बनता उनका भुगतान कर देता।

कुछ ही देर में राय जी एक प्लेट में पेड़े,



गरमा गरम आलूचप और सरसों, अमरूद से बनी तीखी चटनी लिए हाजिर हो गए। सामने स्टूल लगा दी। प्लेट रख दी ऊपर। चापाकल चाँपकर ठंडा पानी भी निकाल लाए। शलभ जी ने एक-एक कर दोनों पेड़े मेरे मुँह में ठूँस दिये और आलूचप पर टूट पड़े। चटखारे लेते हुए सरसों, अमरूद से बनी चटनी की जम कर तारीफ की। प्रशंसा सुन राय जी फूले न समाए। उनके चेहरे की चमक एकाएक बढ़ गई। अपनी मूंछों को ऐंठते हुए उन्होंने पूछा, 'आउर ले आई का?'

राय जी के इस सवाल पर शलभ जी ने कुछ देर के लिए खाना रोक दिया। मुड़कर पूछा, 'कहाँ के रहने वाले हैं आप? इस चौर जिला के तो नहीं लगते?'

'ऊपी (यूपी) हजूर। देवरिया जिला के मिसिर के बकुची गाँव में घर बा। भाटपार रानी जानत हंइ नू? ओहिजे पास में बा ई गाँव। गउंआँ में सब ढेर तंग कइलस। अकबका के पेट चलावे खातिर भाग अइनी एहिजा।'

एक संवेदनशील मनुष्य की तरह राय जी की पलायन कथा सुनते रहे शलभ। उन्हें अपनी ही कविता के एक कथ्य से सामना हो गया शायद,

'पेट के इशारे पर उठते हैं हाथ  
पाँव चलते हैं पेट के इशारे पर,  
पेट के इशारे पर हरकत में आता है शरीर  
पेट आत्मा का पहला ग्रंथ है  
परमात्मा का आईना है पेट  
पेट हमारा पहला और आखिरी उस्ताद है।'

शलभ की आँखें राय जी की आँखों में गड़ी हुई थीं। एक सन्नाटा पसरा हुआ था चारों ओर. लेकिन इस सन्नाटे को एक ही झटके में

तोड़ते हुए उन्होंने अपने रँग में कहा,

'दुइ ठो अउर लै आवा जवारी।'

शलभ जी अपनी माटी की बोली सुन प्रसन्न हुए, यह राय जी के मन को हल्का करने के लिए किया था एक प्रयास, या परसन पूछने की परम्परा पर हो गए मुग्ध? कह नहीं सकता। दोनों के बीच अवधी-भोजपुरी में चल रहे इस मार्मिक संवाद से आत्मीयता की भीनी खुशबू फैलने लगी।

रायजी उठकर आलूचप तलने चल दिए। यह सोचते कि राय जी की दुकान पर पहुँच कर दो-तीन चप मैं भी दबा ही लेता हूँ, मैं राय जी का सहयात्री बन गया। रास्ते में राय जी ने सवाल किया,

'चाह ना नू पीहन?'

'क्यों?'

मैंने उत्सुकता वश पूछा

'अरे उनकर मुँह भभकऽता, बुझाइल ना तहरा'

फिर उन्होंने अपने मुहावरे को थोड़ा और साफ़ किया। समझाया कि दारू पीने के बाद कोई भी व्यक्ति चाय-वाय नहीं पीता है। हुआ भी ऐसा ही। दूसरे परसन के बाद राय जी ने शलभजी से सीधे कहा -

'चाह (चाय) चढ़ावे जा तानी '

'नहीं '

उन्होंने साफ मना कर दिया।

इस चटनी के लिए अमरूद खिच्चा चाहिए या पका हुआ, सरसों-मिर्ची की मात्रा वगैरह पूछते हुए एकाएक बाबूजी की ओर मुखातिब हो गए। नवगीत के पुरोधा राजेन्द्र प्रसाद सिंह को चर्चा में लाकर उनकी कविताई पर आधे घंटे तक भला-बुरा कहा। यह भी बताया कि पिछले हफ्ते प्रणय (कवि प्रणय कुमार) के साथ जब उनके घर (मुजफ्फरपुर) पहुँचा तो सामने छप्पन



भोग की थाली सजाकर आत्म प्रचार करने लगे 'मठाधीश।' नवगीत को लेकर मैंने यह किया, मेरे ऊपर यह हुआ। कान पक गए यार। थाली पटक दी वहीं; और क्या।' बाद के दिनों में पूछने पर प्रणय जी ने इस घटना की पुष्टि भी कर दी। यह भी बताया कि राजेन्द्र बाबू ने दूसरी थाली लगवाकर शलभ जी को कैसे मनाया।

वो गीत तत्त्व को नये सिरे से परिभाषित कर रहे थे, आलोचकों की दादागीरी पर नाम ले लेकर गरिया रहे थे। रूमानी और इससे इतर कही जाने वाली गजलों की विशद व्याख्या करते हुए जो कुछ भी कह रहे थे वो, सुनते हुए यह तय कर पाना मुश्किल था कि सामने बैठा हुआ आदमी हिन्दी का कवि है या उर्दू का शायर? काश! उनके कहे को अपने मस्तिष्क में अँटा लेने की क्षमता होती तब।

शलभ की कविताओं के पहले पाठक, आलोचक विजय बहादुर सिंह के एक लेख से चंद पंक्तियाँ उधार ले रहा हूँ ताकि अपनी इस कथा में उनके कवि कर्म की सुंदरतम छवि पेश कर सकूँ,

'मुक्त वृत्त, गीत और गजल पर अपना समान अधिकार सिद्ध करने वाले कवि शलभ बकौल नागार्जुन उस विस्फोटक प्रतिभा के स्वामी हैं, जिसकी चर्चा समकालीन कवि पुंगवों के साथ शायद ही कभी सम्भव हो क्योंकि उसके साथ कविता का एक नया गोत्र ही शुरू होता है। ऐसे ही कवियों को देख कर आचार्य भामह ने कहा था, 'कवित्व एक तपस्या है।' शलभ ने यह तपस्या जितनी हिन्दी कविता के पाठकों के लिए की है उतनी ही भारतीय कविता के पाठकों के लिए भी। हमारे लिए यह गौरव की बात है कि शलभ जैसे कवियों ने क्लासिक उर्दू गजलों को खड़ी बोली की देवनागरी लिपि में लिखा। आधुनिक

हिन्दी कवियों में सिर्फ वे ही एक हैं जिन्हें पढ़ते हुए हमारा ध्यान बार-बार न केवल कालिदास, कबीर, सूर, तुलसी, घनानंद पर, बल्कि मीर, गालिब, इकबाल, फिराक और मजाज पर साथ-साथ जाता है और हम एक ऐसे भाव-संसार में प्रवेश कर जाते हैं जो हमारी चेतना के क्षितिज को उदात्त और जीवन बोध को अधिक प्रखर और व्यापक बनाता है।'

चक्रधरपुर चाकुलिया के जंगल, तेंदूपत्ते के दोने में आदिवासियों द्वारा पिलाए जाने वाले एक प्राकृतिक पेय, नीरज के आगमन पर आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की मनोदशा जैसे प्रसंगों पर लम्बी बातचीत के बाद 'अब चलता हूँ' कहते शलभ सड़क की ओर चल दिए। रिक्शा पर बैठाने मैं भी गया। रिक्शा रफ्तार पकड़ता, इसके पूर्व ही' मिलते रहना जी' हमें कह गए वो।

अनुगामिनी' के दफ्तर के करीब ही इफ्टा के साथी ब्रजेन्द्र गढ़वाल अपने पिता के साथ रहते थे। उनके किराये के घर में मेरा आना-जाना लगा रहता था। एक दिन उन्हीं से मिलने जा रहा था कि सड़क किनारे शलभ जी दिख गए। उन्हें लगा कि मैं उन्हीं से मिलने आया हूँ।' कुछ देर बैठो मेरे दफ्तर में, मैं भोजन करके आता हूँ।' कहते हुए एक स्टाफ के साथ निकल गए। एक घंटे से ज्यादा समय बीत जाने के बाद वे लौटे तो कहने लगे, 'तुम्हारे शहर का साइकिल मिस्ट्री उस्मान अपने घर से नॉनवेज-बिरयानी बनवा कर लाया था। प्रेमी आदमी है मेरा। छककर खाया-पिया। मजा आ गया। बोलो, आज क्या लाए हो।'

'कुछ नहीं, मैं अपने दोस्त से मिलने जा रहा था। आप मिल गए तो रूक गया यूँ ही।'

फिर बाबूजी की खैरियत पूछी और अपने काम में लग गए। वहाँ से निकल कर कुछ ही



दूर आगे बढ़ा तो नरेंद्र मिश्र जी से मुलाकात हो गई। हम दोनों को सड़क किनारे बतियाते हुए उन्होंने देखा था सो हँस-हँस कर शलभ जी के चाल-चरित्र पर उल्टी-सीधी बातें करते रहे। चेताया कि ज्यादा दोस्ती करोगे तो सब कुछ सिखा देगा यह कलकतिया। नरेंद्र मिश्र जी का घर अनुगामिनी के दफ्तर के करीब ही था। वे शलभ जी के विषय में जो कुछ कह गए वह सच है या झूठ ? पशोपेश में पड़ गया। अब दूरी बना ली उनसे। शहर की सड़कों पर जब कभी देखता उन्हें, कन्नी कटा लेता।

समाहरणालय परिसर में अखबार वालों के लिए एक जगह मुकर्रर थी। सब यहीं बैठकर अपने-अपने अखबारों के लिए खबरें लिखते थे। उस दौर के सभी अखबार यहाँ देखने को मिल जाते थे। मुफ्त में इन्हीं अखबारों को देखने की लालसा हमें रोज यहाँ खींच लाती थी। वरिष्ठ पत्रकारों के लिए कुछ न कुछ काम भी कर दिया करता था मैं। काम का दाम यह कि जिस किसी को जो कुछ लिखकर दिया, सब छप ही गया लगभग।

दो दिनों से यहाँ अनुगामिनी की आमद बंद थी। वरिष्ठ पत्रकार बच्चा बाबू जी ने बताया कि कम्पोजिटर लोग हड़ताल पर चले गए हैं, अखबार की छपाई बंद है इन दिनों। इतने में पारस बाबू (प्रोफेसर पारस नाथ सिंह) आ गए। हड़ताल के पीछे शलभ श्रीराम सिंह की भूमिका पर विस्तार से बताने लगे। इस हड़ताल के बाद प्रबंधन से शलभ जी की खटपट शुरू हो गई। और कई नगरों की तरह एक दिन हाजीपुर नगर को भी उन्होंने अलविदा कह दिया। ऐसे ही किसी नगर के छूट जाने पर मार्मिक स्वर में गाया था उन्होंने,

‘छूट जाएगा नगर यह

यह नगर भी छूट जायेगा!

दूर, खेतों पर झुके आकाश के नीचे  
भीड़ बनकर कौन तब हमको बुलायेगा?...’

अब वे फिर से ऐतिहासिक व पुरातात्विक दृष्टिकोण से मध्य भारत के सबसे महत्वपूर्ण नगर विदिशा (मध्यप्रदेश) के नागरिक बन गए हैं। हाजीपुर के कई घरों में उनके अराजक किस्से, बतकहियाँ, संपादित पत्र-पत्रिकाएँ और कविताओं के अल्फाज़ अक्षर रूप में उपस्थित हैं। सद्मदय पाठक, वैसे ही घरों में मेरे किराये वाले घर को भी गिन लें।

दीपावली की साफ-सफाई करते हुए उनके कविता संग्रह ‘कल सुबह होने के पहले’ को हर साल झाड़-पोंछ कर सुखाते हुए उनकी नशीली आँखों वाली तस्वीर के पीछे उनकी शिष्ट-अशिष्ट-उच्छिष्ट छवियों के मर्म को समझने की कोशिश करता। ‘आ बैल मुझे मार’ की तर्ज पर छपे उनके परिचय के निहितार्थ निकालता, भीतर के पत्रों में झाँकते हुए कभी उनके साथ हावड़ा पुल की शाम’ देखने पहुँच जाता कलकत्ता, कभी ‘लाल बत्तियों की रोशनी में’ देख रहा होता ‘लखनऊ की साँझ’, कभी मसोढ़ा, उतरौजा जैसे गाँवों में टहलते इस ‘काल पुत्र के वक्तव्य’ को अपने अंतःपुर में ले जाता।

हाजीपुर प्रवास के दौरान उनको कविता पढ़ते हुए कभी नहीं सुना। ‘चक्रधरपुर चाकुलिया के एक कवि सम्मेलन में अपने जादुई पाठ से नीरज का नशा फाड़ दिया था शलभ ने।’ ऐसा अपने पिता के मुख से सुन चुका था।

आज इष्टा के साथी ब्रजेन्द्र गढ़वाल, सत्ता की जनविरोधी नीतियों के प्रतिरोध में नुक्कड़ पर डफली बजा रहे हैं, शलभ रचित प्रसिद्ध गीत ‘नफस-नफस कदम-कदम’ को अनुराग से गा रहे हैं,



<p>से हो</p>	<p>‘जहाँ अवाम के खिलाफ साजिशें हों शान ढूँढ़ रहा हूँ। जहाँ पे बेगुनाह, हाथ धो रहे हों जान से जहाँ पे लफ्ज़े-अमन एक खौफनाक राज़ जहाँ कबूतरों का सरपरस्त एक बाज हो वहाँ न चुप रहेंगे हम कहेंगे, हाँ, कहेंगे हम हमारा हक! हमारा हक! हमें जनाब चाहिए। घिरे हैं हम सवाल से हमें जवाब चाहिए। जवाब दर सवाल है कि इंकलाब चाहिए! इंकलाब जिन्दाबाद! जिन्दाबाद-इंकलाब! ब्रजेंद्र के अंदाज में शलभ के अंदाज को</p>	<p>अपनी आवारगी में सुंदर दिखने वाले इस कवि की उपस्थिति का एहसास बार-बार होता है आज भी। कानों में बार-बार बजता है उनका नव निर्गुण, ‘एक दिन असंख्य लोगों की तरह मिट जाऊँगा मैं भी फिर भी रहूँगा मैं फिर भी रहूँगा मैं राख में दबे अंगारे की तरह कहीं न कहीं अदृश्य, अनाम, अपरिचित रहूँगा फिर भी फिर भी मैं।’</p>
------------------	--	--

**संपर्क :** सतीश नूतन, टाउन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, हाजीपुर, पिनकोड- 844101, वैशाली, बिहार, व्हाट्सएप नम्बर 8986195842



हमलोग मैनेजर पाण्डेय के सामने क्लासरूम में बैठे थे। बैठे ही नहीं थे, उनसे मुखातिब भी थे। ज्ञान का या ज्ञानी का आतंक हम पर हावी नहीं हुआ। वह एक सहज-स्निग्ध सी दुपहर थी जिसमें हमलोग मैनेजर पाण्डेय से पढ़ रहे थे। रोमांच हमारी नसों में दौड़ रहा था। हमलोग मंत्र-मुग्ध हो उस पल को जी रहे थे।

बात उसी साल की है। एक दिन दोपहर में उनके चेंबर में बैठा हुआ था, कुछ पूछने के लिए कि तभी एक सज्जन आये। बैठने के बाद बतलाने लगे- काफी समय और श्रम लगाकर यह मोटी सी शोध परक पुस्तक लिखी है। सर को देने आए है। वैसे उसकी कुछ प्रतियां कैसी मार्केट में बिकने के लिए रखी हुई थी। वे कुछ देर रहे। चाय पिया। सर को किताब अर्पित की। कुछ समय के बाद सर खींझ कर बोले और कुछ कहिएगा। वे हड़बड़ाते हुए बोले - नहीं सर, बस मिल लिया। आप के दर्शन हो गए और कुछ नहीं चाहिए। वे स्खसत हुए। सर के कमरे में एक टेबल थी, थोड़ी दूरी पर। उस पर कुछ ऐसी किताबें-पत्रिकाएं रखी रहती थी जिनके लिए सर छात्रों को कहते थे- देखो तुम्हारे काम का उसमें कुछ हो तो ले जाओ। अर्थात् ऐसी किताबें जो उनके किसी काम की नहीं होती थी। सर ने उस मोटी सी पुस्तक को उलट-पुलट कर देखा और उसी टेबल पर रख दिया। मैंने जिज्ञासा बस पूछ लिया- सर, वे भी बतला रहे थे कि तीन साल मेहनत करके उन्होंने यह किताब लिखी है और यह काफी मोटी भी है। छपाई वगैरा भी ठीक है। मुझे किताब देखकर और उन सज्जन की बातों को सुनकर जो समझ में आया, उसमें और कुछ जोड़कर युवा उत्साह में पड़कर अला बला बकने लगा। कुछ ज्यादा ही उत्साहित हो गया था। सर ने मुझे धीरज से सुना फिर खींझकर कहा- मेहनत तो गधा भी बहुत करता है तो? क्या वह घोड़ा हो जाता है? मैं चुप! एक चुप हजार चुप। तभी अभिषेक सर कमरे में आये।

अभिषेक रौशन जी मैनेजर पांडे के उन दिनों प्रिय शोध छात्र हुआ करते थे। पतले-दुबले और खूब यारबाश। खाने-पीने के शौकीन और हम नए रंगरूटों को ज्ञान की आंधी से नहलाने में सक्षम। वे मैनेजर पांडे की भिमिक्री शानदार करते थे। उन्होंने हमें बतलाया कि mp क्या चीज है। मैनेजर पांडे के कुछ शोधछात्रों ने भी उनको नए छात्रों के बीच लोकप्रिय बनाया। लेकिन सबसे बड़ी बात यह थी कि यदि खुद मैनेजर पांडे जब पढ़ाते या कुछ समझाते तो वह इतने सहज होते और इतनी सहजता से समझाते कि बच्चों में उनकी लोकप्रियता



और बढ़ जाती। लोक में प्रचारित हुआ पूर्वाग्रह वर्तमान को भविष्यगामी बनाता। वर्तमान की थोड़ी सी भी अर्थवत्ता भविष्यगामी होने से किसी को रोक नहीं सकती। इसलिए वे सफलता को कम महत्वपूर्ण और सार्थकता को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते थे। सफलता व्यक्तिगत होती है, सार्थकता सामूहिक। ऐसा वे मानते ही नहीं, करने में भी यकीन करते थे।

शोधछात्रों का चयन दो तरीको से होता है। शोधार्थी शोध निर्देशक का चयन करें या निर्देशक शोधार्थी का। अच्छा काम तो शोधार्थी को ही करना होता है। उसकी मेहनत होती है। हाँ, गुरु रास्ते के संकटों से उसे अवगत कराता

है क्योंकि वह भी इसी रास्ते आया होता है। मैनेजर पांडे को अच्छे शोधार्थी मिले। साथ ही जेएनयू जैसी संस्था मिली। संस्थाओं का भी योगदान आपके निर्मिति में होती है। इस से आप इनकार नहीं कर सकते। मैनेजर पांडे ने भी हमेशा जेएनयू को अपने निर्माण में एक घटक के रूप में देखा। जेएनयू जैसा समाज हो, यह सपना जेएनयू में रहनेवाला हर व्यक्ति देखता है। इसलिए जो जेएनयू से निकलता है वो अमेरिका जाता है या मुनिरिका जाता है। सर भी रिटायरमेंट के बाद कुछ दिन जेएनयू से दूर रहे पर जल्द ही उस प्लैट को छोड़कर मुनिरिका आ गए। यह जेएनयू से नजदीक था।

**संपर्क :** Dr.Bijay Kumar Shaw, Assistant Professor, Department of Hindi, Kazi Nazarul University, Asansol-713340., West Bengal., Mob. : 8250412914



दमयन्ती को लगा कि उसने कोई सपना देखा है। कितने ही सपनों में उसे उसी समय एहसास हो गया है कि वह कोई सपना देख रही है और तब उसने नींद के टूटने का इन्तजार किया है। यह तो बहुत ही बुरा सपना था। उसे अच्छा नहीं लगा कोई इतना बुरा सपना देखना। उसने नींद के टूटने का इन्तजार नहीं कर नींद को तोड़ने का प्रयास किया। उसे देर तक लगता रहा कि प्रयास के बावजूद उसकी नींद टूट नहीं रही है।

जब उसे पक्का यकीन हो गया कि उसकी नींद टूट चुकी है तब यह सोचकर वह काँप गयी कि उसने कोई सपना नहीं सच देखा था।

देर तक तो वह अथाह में पड़ी रही जैसे कि होश खो चुकी हो। जब होश आया, तब सोचने लगी कि पति को यह सच बताना चाहिये या नहीं।

अगर सपने में भी चोर कोई और होता तो सपना टूटते देर नहीं लगती। वह चीख पड़ती और उसके चीखते ही उसका पति उसे जोर-जोर से हिलाते हुए पूछता "दमयन्ती! दमयन्ती! क्या हुआ - सपना देख रही हो कोई बुरा सपना" और अभी यह हाल था कि चीखना-चिल्लाना तो दूर किसी जादू से देखे हुए सच को भी सपना बना देना चाहती थी। कितना कठिन था इस सच को पति के कानों में फुसफुसाना!

किसी भी तरह जब सच सपना नहीं हुआ तो उसका दिल जोर-जोर से धड़कने लगा कि अब तो सच बताना ही होगा। सपने को तो वह साफ पचा लेती मगर सच को अपने ही पति से छिपा लेना उचित होगा क्या उसने खिन्न मन से सच बक देने का निर्णय ले लिया मगर साथ ही यह निर्णय भी लिया कि सच उगलने के पहले अभी वह और एक हजार बार सोचेगी।

उसने एक हजार बार सोचा और बड़े ही मरियल स्वर में पति को सच सुना दिया।

पति ने सुना और निर्वाक हो गया।

पत्नी को डर था कि ऐसा हो सकता है। अब उसे इस बात का अफसोस हुआ कि उसने सिर्फ हजार बार ही क्यों कुछ और अधिक क्यों नहीं, उसने डरे हुए स्वर में पति से कहा "मैं नहीं चाहती थी कि आपको यह सब बताऊँ, मगर पत्नी का यह कर्म तो होता ही है कि वह पति को हर बात बताये। मैंने बहुत दुखी मन से आपको बताया है यह सच।"

"तुम्हें अच्छी तरह याद है न कि तुमने कोई सपना नहीं देखा था"

"अच्छी तरह याद है अच्छी तरह" पत्नी बोली "रात के दो बज रहे थे। मेरी नींद अचानक टूटी यह हो सकता है किसी खट-खुट की आवाज से टूटी



हो। जगलालजी के कमरे में रोशनी देखकर मुझे लगा कि जब बत्ती उन्होंने जलायी है तब हो सकता है कि उन्हें किसी चीज की जरूरत पड़ गयी हो। पानी का जग तो मैंने उनके कमरे में रख दिया था। खिड़की का परदा थोड़ा-सा खिसकाकर मैंने उस कमरे में झाँका। उन्हें कमरे में चहलकदमी करते देख मेरा एक मन हुआ कि मैं ही उन्हें टोककर पूछूँ कि उन्हें कुछ चाहिये तो नहीं तबियत तो ठीक है मैंने कुछ सोचकर ऐसा नहीं किया, क्योंकि मैंने उनसे पहले ही कह रखा था कि अगर रात में किसी चीज की जरूरत पड़े तो वे हमें हाँक लगा देंगे। दो बजे रात की उनकी इस चहलकदमी से मैं परेशान हुई और सोचती रही कि इसका क्या कारण हो सकता है। देर तक चहलकदमी करते रहने के बाद वे खूँटी से टँगी अपनी कमीज के पास आये। उसके बाद जो मैंने देखा तो।”

“तो”

“तो ए पत्नी ने जवाब दिया-मुझे अभी भी लगता है कि मुझे यह बात आपसे नहीं कहनी चाहिये, मगर।”

“तो” पति की फैली हुई आँखें पत्नी के चेहरे पर टिकी थीं “तो”

“उनकी कमीज के पास ही खूँटी से आपकी कमीज भी टँगी थी।

“हूँ।”

“वे आपकी कमीज की जेबें टटोलने लगे।”

“फिर”

“उन जेबों में जितने रुपये थे, सब उन्होंने अपनी जेब में डाले और फिर बत्ती बुझाकर सो गये।”

“तुमने मुझे जगाया क्यों नहीं”

“नहीं जगाया,” पत्नी ने जवाब दिया, “मुझे लगा कि मैंने कोई सपना देखा है। मैं उसके बाद

सो नहीं सकी, तब से जगी ही हुई हूँ।”

“रात में ही तो नहीं निकल गया वह!” पति ने खीझते हुए कहा “पौ फटने पर ही निकला होगा। उस समय तो मुझे जगा देती। मैं उसे घर में ही पकड़, धर लेता।”

“आपको जगाने का समय भी तो नहीं दिया उन्होंने,” पत्नी बोली, “कब चुपचाप निकल गये, पता ही नहीं चला। और फिर यह भ्रम कि सपना।”

“अच्छा हुआ कि तुमने कोई सपना नहीं देखा, सच देखा। सिर्फ सपना देखा होता तो-उफ!”

सिर्फ सपना देखा होता तो ‘उफ’ क्यों”

“तो मैं सच जान नहीं पाता। अब तो सच जान गया।”

“जान गये तो ठीक है” पत्नी बोली, “मगर आप इसे सपना ही मानिये और सच को भुला दीजिये।”

पति ने पत्नी की राय पर ध्यान नहीं दिया और बोला-“कभी-कभी तो मेरी जेब में दो-चार हजार भी होते हैं, अक्सर हजार से ऊपर, मगर देखो उसकी खोटी किस्मत कि उसे जेब में पैसे मिले ही नहीं, मुश्किल से दो-तीन सौ रुपये मिले होंगे।”

“खोटी रही उनकी किस्मत” पत्नी बोली, “आप तो किस्मत वाले रहे कि रोज हजार से ऊपर रखते थे और कल हजार भी नहीं। दो-तीन सौ रुपयों की क्या बिसाक्ष!”

“हाँ दो-तीन सौ रुपयों की क्या बिसात!”

इतना बोलकर चुप हो गया पति और किसी शून्य में गुम हो गया।

कुछ देर बाद पत्नी ने टोका “अब क्या सोचने लगे भुलाना कठिन होगा मगर भुला देना ही तो अच्छा होगा। मैं आपके लिए चाय ले



आऊँ”

पति का ध्यान कहीं और था। उसने कहा “वह पाँच बजे वाली बस से निकला होगा। अभी आठ बजे भी एक बस है। मैं उसी से निकलता हूँ।”

“कहाँ जायेंगे” शंकाग्रस्त पत्नी ने पूछा।

“जगलाल के पास।”

“बस इसी कारण आपको कुछ बताते हुए डरती हूँ मैं” खीझ भरे स्वर में पत्नी ने सुनाया “दो-तीन सौ रुपये की कोई बिसात नहीं, मगर आप चले चोर के पास सवाल-जवाब करने! चोर कभी यह मानने को तैयार होता है कि उसने चोरी की है। अब वहाँ जाकर झाँक-झाँक करने से आपकी ही फजीहत होगी। जो सुनेगा वही सोचेगा कि इतनी पुरानी और गाढ़ी दोस्ती का कितना बुरा अन्त हुआ! लोग क्या आपको अच्छा कहेंगे कि दो-तीन सौ रुपयों के लिए आप अपने मित्र के साथ बदसलूकी करने आये हैं। इतनी छोटी-छोटी रकम तो आपके कितने ही ग्राहकों ने पचायी होगी और आपने सबको बड़ा खाता में डाल दिया। इस रकम को भी डालिये बड़ा खाता में। सुनकर कोई विश्वास भी नहीं करेगा कि जगलाल जी आपके दो-तीन सौ रुपये चुराकर भागे हैं।”

“तुमने यह विश्वास कर लिया” पति ने मुँह खोला “कि जगलाल रुपये चुराकर भागा है”

“मैंने अपनी आँखों से जो देखा, वह आपको सुना दिया” पत्नी ने सहमते हुए कहा “अब आगे आप जानिये कि उन्होंने क्या किया चुराया या नहीं चुराया, भागे या नहीं भागे”

“तुम्हारे दिल में यह बात बैठ गयी है कि जगलाल ने चोरी की है”

“उन्होंने जो किया” टूटते स्वर में पत्नी बोली, “उसे चोरी ही तो कहेंगे न”

“तुम्हें यह सूझता है कि उसने चोरी की”

पति बोला-“और मुझे यह सूझता है कि उसने मेरी फजीहत कर दी।”

पति की यह बात वह मान भी ले-दमयन्ती ने मन में सोचा - कि जगलाल जी ने चोरी नहीं की-मगर यह कैसे मान ले कि जिस आदमी के घर चोरी हुई उसी की फजीहत हो गयी। उसने कुछ जोर देकर कहा “अभी आपकी फजीहत कैसे। हाँ, अगर अब आप उनके पास जाकर बखेड़ा करते हैं तब फजीहत होगी आपकी।”

“कैसे नहीं हुई फजीहत मेरी” पति बोला “मेरे रहते उसे चोरी करने की नौबत आयी - तो क्या मेरी फजीहत नहीं हुई उसने चोरी क्यों की उसने मुझे इतना पराया क्यों समझा कि मेरे पास नहीं आया, मुझे अपना दुख नहीं बताया मैं किस बात का दोस्त किस बात का मैं जिगरी दोस्त यह तो दोस्त के साथ दगाबाजी हुई नए दमयन्ती आया और रुपये चुराकर निकल गया। दगाबाज निकला वह मैं उसकी खबर लूँगा।”

दमयन्ती की समझ में कुछ नहीं आया, वह किसी उलझन में पड़ गयी।

“मान लो, उसने चोरी ही की” पति बोला- “मगर यह भी तो जानो कि उसने चोरी क्यों की”

अवरुद्ध स्वर में पत्नी ने धीरे से पूछा “क्यों”

देर तक मौन साधे रहने के बाद पति बोला-“जगलाल किसी भारी संकट में है - दमयन्ती। मुझे उसके पास जाना होगा।”

दमयन्ती ने कुछ कहने के नाम पर इतना कहा-“उन्हें अपना हाल बताने आना था। आप नहीं गये, नहीं जा सके, तो उन्हें आना था। उन्हें चोरी नहीं करनी चाहिये थी।”

पत्नी की बात पर स्वीकार की मुद्रा में कुछ देर सिर हिलाते रहने के बाद पति बोला- “वह भी मजबूर था, अपने स्वभाव से मजबूर।



इतना संकोची आदमी मुझे अपने जीवन में कभी नहीं मिला। बचपन से देखता आ रहा हूँ, आज तक नहीं बदला है वह। आया दुख-तकलीफ की कोई बात नहीं की और रुपये लेकर या चुराकर निकल गया। आज तक कभी नहीं माँगा, तो अब कैसे माँगता। ऐसा संकोच भला किस काम का कि आदमी दगाबाज कहलाये”

“आदमी की नीयत का कोई ठीक नहीं कि कब उसके मन में क्या आ जाये!” पत्नी ने दबी जबान से कहा। “उसकी नीयत” पति ने खिन्न मुस्कुराहट के साथ पत्नी की ओर देखा।

पत्नी ने केवल आँखें मिलायीं।

“मैं उसके पास लाख-दो लाख छोड़कर कितनी ही बार एक-एक पन्द्रहिया गायब रहा हूँ - दमयन्ती” पति ने सुनाया “लौटकर आया हूँ और मुझे पैसे वापस मिल गये हैं। कोई गवाह तक नहीं कि मैं उसके पास रुपये छोड़ रहा हूँ। कभी उसकी नीयत में खोट नहीं आयी। वह पूरी रकम गटक सकता था और जैसा कि तुमने कहा, कह सकता था कि मैंने कोई रकम उसके पास नहीं रखी थी। तुम्हारा ध्यान उसकी नीयत पर जा रहा है दमयन्ती और मैं उसकी मुसीबत को देख रहा हूँ। कैसे बुरे दिन आ गये उसके कि उसे दो-दो-तीन-तीन सौ रुपये का जुगाड़ करना पड़ रहा है! ऐसा भी क्या संकोच कि लोग बदनीयत कह बैठें!”

इतना बोलकर पति ने पत्नी से पूछा

“दमयन्ती घर में कुछ पैसे होंगे”

“मेरे पास”

“हाँ।” “होंगे तीन-चार हजार रुपये।”

“तुम दे दो तो मैं अभी ही निकल जाऊँ।

बैंक से पैसा निकालते दोपहर हो जायेगी।”

पत्नी पैसे लाने अपने कमरे में गयी और पति यात्रा की तैयारी में लगा।

पति को पैसे थमाते हुए पत्नी ने बड़े ही खुशगवार लहजे में कहा-“न जाने कौन-सा पुण्य किया था मैंने कि समय पर सुबुद्धि आ गयी और मैंने सच सुना दिया आपको।”

जब पैसे लेकर चलने को हुआ पति तब दो कदम चलकर वह ठिठका और मुड़कर पत्नी से कहा “दमयन्ती मुझे तो अब बहुत डर लग रहा है जगलाल का सामना करने में।”

“डर!” पत्नी ने अचरज से कहा-‘आपको किस बात का डर’

“अगर जगलाल मुझे देखते ही भभक उठा” पति ने लड़खड़ाते स्वर में कहा “और बोल पड़ा “अब आये हो। मुझसे चोरी करवा लेने के बाद किस बात के दोस्त तुम। पिछले तीन सालों में मेरे जिगरी दोस्त ने यह जानने का प्रयास भी किया कि मैं किस हाल में हूँ पैसे वसूलने आये हो तो सुन लो कि मैंने चोरी की है और तुम्हारे पैसे यथाशीघ्र लौटा दूँगा “यथाशीघ्र। तब मैं क्या करूँगा दमयन्ती तुम्हें ऐसा लगता है दमयन्ती कि वह मुझे दगाबाज भी कह डालेगा।”



बिल्लौरी आँखें और दूध सी रंगत वाली रेशमा खिड़की पर बैठी कुछ सोच रही थी। आयताकार खिड़की के उस पार उसकी एक पूरी दुनिया दिखती थी। लम्बाई से बराबर दूरी पर लगी सलांखें इसे बड़ा आरामदायक बना देती थीं। मसलन कोई सामान खरीदना हो, चूड़ियाँ पहननी हों, पड़ोसन से चीनी, बरफ कुछ लेना देना हो सब आराम से हो जाता। खिड़की की मेड़ इतनी चौड़ी थी कि आराम से बैठ चाय पी लो, गली में किसी से गप्पे लगा लो या चुपचाप बैठ नज़ारे देख लो। रेशमा के घरवाले इसे दरीचा कहते और रेशमा को इस दरीचे की नवाबन, रेशमा हँस देती।

इस दरीचे की ख़ासियत ये थी कि जब चाहो चिक नीचे डालकर, बिना उस तरफ वाले को दिखे बिना भी यहाँ बैठा जा सकता था। दरीचे के ठीक सामने गली जाती थी। वो गली बड़ी गुलजार रहती। शुरुआत सुबह सुबह दरवेश करते, दुआओं की झड़ी लगाते, बदले में खाना, अनाज पाते फिर स्कूली बच्चे, मदरसे को जाते बच्चे, पांच समय के नमाज़ी, चटपटे नमकीन का फेरीवाला, मीठे सेंव बेचता ठेला, इमली, चूरन, कमरक की पुकार, हफ्ते में एक दिन फेरी लगाती मनिहारिन और बुँदे, टिकली, सिन्दूर, बिछिया वाला भी जो साईकिल पर कांच का चौकोर डिब्बा लिये आता और सबकी जरूरत अनुसार सामान लाता। ऐसी दुपहरियों को पर्दा नहीं अपने अपने दरवाजे चिक की आड़ में खड़ी होतीं और वो उनके इशारे पाकर पास चला जाता। दरवाजे पर खड़ी महिलाएं अपनी मनपसंद चीजें खरीद कर मोलभाव करतीं और एक दूसरे की मनुहार में बड़ी मुश्किल से सौदा पटता। बस नुकसान न ग्राहक का हो न फेरीवाले का ये जरूर देखा जाता। 'ज्यादा पैसे दे रही हूँ, बहुत लूटने लगे हो' का ताना जरूर सुनाई देता।

ये दरीचे वाला घर मोहल्ले की उल्टी दिशा में खुलता था और काफी बड़ा था सो इसकी खरीदारी इसी खिड़की से होती। गली के उस पार एक घर की चारदीवारी दिखती। इस घर में अकेला एक शरीफ आदमी रतन रहता। मकानमालिक दूर असम के किसी चाय बागान के मैनेजर थे सो बीबी बच्चों सहित वहीं रहते। घर खाली न रहे सो यहाँ पढ़ने आयेँ और अब नौकरी के लिये संघर्ष करते अपने दोस्त के बेटे रतन को अपना पूरा घर सौंप गए थे। विगत चार सालों से रतन पूरे घर का ध्यान रख रहा था और मुसलमानी मोहल्ला होने के बावजूद सबसे हिलमिल कर रहता। बच्चों को या किसी को भी पढ़ाई में मदद करना उसकी पहचान बन चुकी थी। लोग उसे मास्टर जी कहते।

दरीचे वाले घर में एक भरा पूरा परिवार रहता। इसमें रेशमा, उसके सास ससुर, जेठ जिठानी और उनके दो बच्चे रहते। रेशमा का पति हसन दुबई में



काम करता और साल-छ महीने में उसके इधर चक्कर लगते। उसके आते ही पूरे मोहल्ले में रौनक आ जाती। वहां से लाई गई सौगातें बांटी जाती खासकर रसीले खजूर जिनके अन्दर बादाम का टुकड़ा भरा होता। हसन मियां और रेशमा की कोई औलाद न थी। शादी को पांच साल होने आये लेकिन कोई खुशखबरी नहीं हुई। वो अपनी औलाद न होने से ख़ास दुखी भी न लगते और अपने भाई भाभी की औलादों से मन बहलाया करते। कुछ का कहना था कि हसन ने दुबई में अपना एक और परिवार बसा रखा है सो इस बीबी से न सही उस बीबी से औलादें होंगी तभी तो इतने बेफ़िक्र हैं।

हसन के आने से पहले रेशमा पर झाड़ फूंक, ताबीज, गंडे किये जाते लेकिन अस्पताल का रुख नहीं किया जाता। हसन दुबई से नए फ़ैशन का बुर्खा और पर्स जरूर लाता लेकिन दोनों ही धरे रह जाते, इस्तेमाल न हो पाते। हसन अपनी चच्ची, मुमानी, फूफी, मौसी के घरों में दावत में मस्त रहता या ये सब रिश्तेदार हसन के वहां दावत पर बुलाये जाते। रेशमा बस घर, बावर्ची खाने के बीच झूलती रहती। कभी कभी हसन के जल्दी लौट जाने की तमन्ना भी कर बैठती क्योंकि उसकी शांत जिंदगी में हसन बेइंतहा मसरूफ़ियत लेकर आता, खुशियाँ लेकर नहीं।

साल, छह महीने में आया हसन अपनी दौलत, रिश्ते, नाते संभालता, रेशमा को भूल जाता। रेशमा से अम्मा, अब्बू की खबर पूछता, उसकी नहीं। रेशमा तरस जाती कि कभी तो सिर्फ हम दोनों की बातें हों, कभी तो वो मेरे दिल का हाल पूछे। कभी तो वो मुझे मेरा सम्बल बन कर दिखलाये जब मैं उसका आसरा लेकर सुकून पा सकूँ। कभी तो हसन उसको निहारे और उसका हाथ अपने मजबूत हाथों में लेकर कहे

‘तुम कैसी हो रेशमा? मेरे बिना कैसे समय काटती हो? मेरे न रहने पर मेरे अम्मी अब्बू तुम्हारा ध्यान तो रखते हैं न? क्या तुम्हें मेरी याद आती है?’ और वो उसके मजबूत कंधे पर सर रखकर फूट फूट कर रोये और अपने दिल का हाल कहे ‘हसन यहाँ सब कुछ है लेकिन तुम नहीं हो तो मैं अधूरी हूँ, यहीं आ जाओ न! पैसे कम सही लेकिन साथ तो रहेंगे।’ और बिन पूछे भी रेशमा हसन से ये कह बैठी और बदले में एक कड़ी फटकार मिली। ‘कभी तुम्हारे खानदान ने भी दरिहम देखे हैं? कोई गया है दुबई? मैं अपने सारे रिश्तेदारों की हालत सुधारना चाहता हूँ और तुम ऐसी मनहूस बातें बोल रही हो?’

‘तुम्हें रिश्तेदारों तक की पड़ी है लेकिन मेरी हालत नजर नहीं आती?’ रेशमा बोल पड़ी।

‘क्यों क्या कमी है? खाने को खाना और पहनने को कपड़े हैं, रहने को घर है और अम्मी अब्बू का साथ है तुम्हें और क्या चाहिए?’

‘तो क्या तुम मुझे अम्मी अब्बू के लिये लाये हो?’

जवाब में एक चांटा रेशमा को खामोश और हतप्रभ कर गया।

उदास रेशमा अब उदासीन सी रहती। काम निपटाकर दीनी पढ़ाई करती या खुद को सिलाई कढ़ाई में व्यस्त रखती। पति ने उसे बहुत मनाया कि - देखो दुनियाभर की औरतों से तुम कहीं ज्यादा भाग्यशाली हो। औलाद न होने के बावजूद तुमसे कोई कुछ नहीं कहता और दूसरे निकाह की भी बात नहीं उठती फिर भी तुम मनहूसियत फैलाती हो। खुश रहो और रहने दो’ और हसन दुबई वापस लौट गया।

न कोई साथी न कोई सुख दुख कहने वाला सो रेशमा ने उस दरीचे को अपना हमराज बना लिया। वो काम निपटा कर उस खिड़की पर बैठ अपने मन की बात कहती, कभी मुस्कराती



तो कभी लजा जाती। आते जाते बच्चों को देखती और उनसे कभी कभी बतिया भी लेती। बच्चे शाम को जिस घर में इकट्ठा होते वो ठीक सामने पड़ता। वो बच्चे बांस की बनी चारदीवारी से घिरे सहन के भीतर रहने वाले रतन से रोज शाम पढ़ने आते। रेशमा की नजर अब बच्चों के साथ साथ रतन पर भी पड़ी। अब वो बैठी बैठी उसकी दिनचर्या निहारती। बांस की खपच्चियों से बनी दीवारों के पार सहन साफ़ दिखता। रतन अनाड़ी हाथों से झाड़ू लगा रहा है वो मुस्करा उठती। कपड़े धोता तो पूरा भीग जाता। चूल्हा फूंकता तो उसका आंखे मल मल कर बुरा हाल हो जाता। बाल सवांरता तो बड़ा मोहक लगता। शाम को पूरे सहन को पानी के छीटें मार कर जब रतन भिगोता तो सौंधी महक उड़ती। रेशमा समझ जाती कि अब रतन के पास बच्चे पढ़ने आने वाले हैं।

शाम चार बजे से ये बांस के बने गेट की भी दीवार न रहती क्योंकि बच्चों के आने से पहले ही खपच्ची का गेट सावधानी से अलग रख दिया जाता ताकि बच्चों की धमाचौकड़ी से टूट ना जाये। रतन कच्चे सहन में चारपाई बिछा देता जिसपर बच्चे अपना बस्ता लेकर बैठते और खुद घूम घूम कर उन बच्चों को पढ़ाता। रेशमा का मन होता वो भी बच्चों के साथ पढ़ने चली जाये। सहन बच्चों के कोलाहल से भरा होता। रेशमा इस समय कभी बिना चिक गिराए दरीचे पर न बैठती लेकिन ये इंसानी फितरत है कि कोई किसी को कितना भी चुपचाप देखे, दूसरे इंसान को अहसास हो ही जाता है कि कोई उसे चोरी छुपे देख रहा है।

रतन को लगता दो आँखे हर वक्त उसकी पीठ पर चिपकी हैं या उसका पीछा करती हैं लेकिन खबर पक्की करने का कोई रास्ता न था। अब वो भी कमरे से चोरी छुपे इस खिड़की

पर नजर रखने लगा। उसे रेशमा वक्त बेवक्त दिखती। अनजाने में उसकी निगाहें इधर कुछ दूँद रही होती, कुछ खोज रही होती। वो रेशमा का अकेलापन जानता था लेकिन उसकी निगाहें भी दरीचे की तरफ उठ जायें तो ये उसकी हिमाकत ही मानी जाएगी सो वह अक्सर खिड़की की तरफ पीठ कर लेता। अब रतन सहज न रह पाता। बच्चों को पढ़ाते समय उसकी निगाहें खिड़की पर चली ही जाती और चिक के उस पार रेशमा को लगता उसकी चोरी पकड़ी गई। अब चूल्हा फूंकते, खाना बनाते समय वो बांस की बाड़ पर एक चादर डाल देता तो रेशमा उचक उचक कर उसे देखने की असफल कोशिश करती। रतन बड़े सुर में गाता तो रेशमा कान लगाकर सुनती और वो आवाज उसे अन्दर तक भिगो देती। रतन जानता था रेशमा उसे देखती है और रेशमा को भी अपनी चोरी पकड़े जाने का अंदेशा था लेकिन रेशमा इस मोह से किसी हाल में निकलने को राजी न थी। रतन को देखना उसकी जिंदगी का जरूरी हिस्सा बन गया था।

आज चार दिन से कोई हलचल न थी। बच्चे आते और चले जाते। रतन न दिखा। रेशमा बैचेन हो गई तो एक बच्चे को रोककर पूछा 'आजकल तुमलोग पढ़ते क्यों नहीं हो?'

'रतन उस्ताद की तबीयत बहुत खराब है' कहकर बच्चा चलता बना। रेशमा को रातभर नींद न आई। 'क्या कोई नहीं है जो रतन का हाल चाल ले?' मन ने कहा 'तू ही क्यों नहीं ले लेती?'

'मैं? हाय रब्बा, घर वाले जानेंगे तो कत्ल कर देंगे।'

'तो क्या रतन को मर जाने दें?' रात नौ बजे जब सब खाना खाकर टीवी देखने लगे तो चादर ओढ़ रेशमा ने पिछवाड़े जा रतन के सहन का बांस का गेट हटाया।



‘कौन?’ एक क्षीण सी आवाज आई।

‘मैं रेशमा...आप दिखे नहीं तो बच्चे ने बताया आपकी तबीयत खराब है।’

रतन ने देखा एक सुनहरी आभा उसके पायताने खड़ी है, रेशमा को पहली बार इतने पास देखकर कुछ उसकी खूबसूरती से कुछ बुखार से रतन को बेहोशी सी छ रही थी, लेकिन होश पर काबू रखते हुए बोला ‘आपको यहाँ नहीं आना चाहिए था, मैं ठीक हूँ आप जाएँ।’

रेशमा अपमानित सी लौट आई। रतन को उसकी हिम्मत पर विश्वास नहीं हुआ और लगा मानों उसने कोई खाब देखा। कितनी खूबसूरत लग रही थी साथ में कितनी मासूम! ऐसा क्या है जो उसे यहाँ मेरा हाल पूछने खींच लाया? उसका बीमार दिमाग थक गया लेकिन जवाब नहीं मिला। दूसरे दिन रेशमा फिर हाजिर थी बस खाना सरकाकर जा चुकी थी। तीसरे दिन रतन ने हाथ जोड़े कि वो अपनी मेहरबानियाँ रहने दे अगर किसी ने देख लिया तो रेशमा के लिये बहुत बुरा होगा लेकिन वो फल बिस्किट रखकर बिना कुछ जवाब दिए चली गई और अगले कुछ दिनों तक यही सिलसिला चला जब तक रतन एकदम ठीक नहीं हो गया।

अब रेशमा बिना चिक के दिख जाती। दोनों के बीच बर्फ पिघल रही थी बस नज़रों तक का आमना सामना होता और दोनों को खुशी मिलती। अब रेशमा के घरवालों ने उसका दरीचे से चिपके रहने पर एतराज जताना शुरू किया। जब देखो तब वहीं मिलती हो, ऐसा क्या खास है वहाँ? जैसे जुमले सुनने को मिलते। रेशमा का खुद पर बस न चलता वो बस रतन को देख भर लेने से खुद को जिंदगी जीने के लिये तैयार पाती थी।

रेशमा के ननद की शादी थी सो पति इस बार तीसरे महीने ही दुबई से वापस आ गया। शादी के बीच रेशमा का खिड़की प्रेम

उससे छुपा न रहा। वो हर बार देखता कि उसके आगे पीछे घूमने वाली रेशमा अब फुर्सत मिलते ही सारे काम खिड़की पर ही बैठ कर करती है। उस दिन उसने देखा कि रिश्तेदार के बच्चे को खिड़की पर बिठाकर पीछे रहने वाली पड़ोसन से बात तो कर रही है, लेकिन हिलते डुलते हाथों में छन छनाती चूड़ियाँ कुछ और ही कहानी कह रही हैं। कुर्सी पर मैगजीन लेकर बैठा रतन चोरी चोरी उन चूड़ी वाली को देख रहा है और नजरें भी चुरा रहा है, आखिर दोनों के बीच में चल क्या रहा है? ये उसकी तीखी नजरों से बच न सका। रतन का गुनगुनाना, बच्चों को पढ़ाते समय खिड़की की तरफ देखते हुए बाल झटकना, तेज आवाज में रेडियो सुनना और गानों के साथ रेशमा का मुस्कुराना। चोरी पकड़े जाने पर रेशमा का हड़बड़ाना उनके बीच का हाल बयां कर रहा था। हसन जल भुन उठा और उसने एक बर्तन को बुलाकर इस खिड़की के दोनों पल्लों पर कीलें ठुका दीं, रेशमा को लगा उसकी सांसें भी घोंट दी गई हैं और हसन चला गया।

दरीचे के बंद होने के बाद कुछ दिन रेशमा बहुत बैचेन रही। उसकी आँखों के सामने से पूरी एक दुनिया ढांप दी गई थी लेकिन प्रेम का दरिया अपने रस्ते बना ही लेता है। आज उसे दरीचे से झांकता एक कागज मिला जिसपर चंद लाइने लिखी गई थीं और वो समझ गई कि ये किसने लिखा है। अब दिल का हाल लिखकर बताना था जिसमें ज्यादा सुविधा थी। शर्म कम लगती थी और कहने को ढेरों बातें थीं। अब अक्सर एक बच्चा रेशमा को कोई अच्छी सी किताब पकड़ा जाता जो रतन भेजता। किताब में डूब रेशमा खुद को भूल जाती। किताब में पत्र भी होते, पत्रों में रतन दीन दुनिया की खबर लिखता ताकि बाहरी दुनिया में क्या चल रहा है इससे रेशमा अनजान न रहे।



बड़े दिनों बाद आजकल रेशमा बहुत खुश नजर आती क्योंकि खबर थी कि वो मां बनने वाली है। वो उस आने वाले मेहमान को लेकर सपने की दुनिया में खो जाती। कोई तो अपना होगा सोचकर रात भर सो न पाती। उसने ये खबर रतन को भी दी। बधाई के साथ साथ रतन ने बताया कि खुद को और होने वाले बच्चे को स्वस्थ रखने के लिये उसे क्या क्या करना चाहिए। उसे जो भी कहना होता वो सब रतन को लिख भेजती अब उन दोनों के बीच बच्चे को लेकर बातें होतीं। रेशमा के मां बनने की खबर सुनते ही हसन तीन चार महीने में ही भारत आ धमका। घरवालों के सामने उसका ये एलान कि 'बच्चा मेरा नहीं है' रेशमा के उपर गाज की तरह गिरा। उसने हसन को तमाम तरह से समझाया कि 'वही उसके बच्चे का बाप है' लेकिन हसन मानने को राजी न हुआ। उसने एक और धमाका करते हुए बताया कि उसकी दुबई वाली बीबी भी अभी तक कोई बच्चा नहीं दे सकी तो ये चमत्कार कैसे हुआ? ये दोहरा सदमा रेशमा को बहुत तोड़ गया। हसन की एक ही रट थी कि 'ये बच्चा मेरा नहीं है हाँ रतन का हो सकता है। मेरे घर में रहना है तो इस बच्चे से छुटकारा पाओ वरना तलाक के लिये तैयार रहो।'।

रतन से ऐसे सम्बन्ध न होने के लिये रेशमा विश्वास दिलाकर हार गई, लेकिन तटस्थ घरवालों ने साथ न दिया और न हसन पिघला। दिन रात की लड़ाईयां उग्र होती जा रही थीं साथ में रेशमा कमजोर। हसन लड़ते वक्त बातों और कड़वे वचनों की सीमा भूलता जा रहा था ऐसे में सुबह सुबह चाय के वक्त हसन ने रेशमा को जली कटी सुना दी और आँगन में बैठा अपनी

मां के सामने मन की भड़ास निकाल रहा था।

अचानक अन्दर के कमरे से एक आग का गोला बाहर भागा, सब बदहवास से खड़े हो गए। समझ न आया ये कौन है और जब समझ आया तो सबने देखा उसके कपड़े, उसकी चमड़ी, जले कागज के चिथड़ों के मानिंद हवा में उड़ रहे थे। हसन ने सुना था कि औरत जान देने में दिलेर होती है, लेकिन घासलेट उड़ेल कर रेशमा को ऐसे जलता देख वो थर-थर कांपने लगा।

इतनी देर में आग से झुलसती रेशमा रतन के आँगन में पहुँच चुकी थी 'रतन मुझे बचा लो, मैं जीना चाहती हूँ.....किसी ने मेरी परवाह न की बस तुमने मुझे इंसान समझा' और आयं बायं बकती नंगी काया पर रतन ने अपनी ओढ़ी लोई डाल दी, रतन ने रेशमा को पहली बार छुआ और खुद भी झुलस उठा। आग पर काबू पाया गया और आनन-फानन में अस्पताल पहुँचाया गया। रेशम सी काया जलकर वीभत्स लग रही थी। दौड़ने की वजह से रेशमा नब्बे प्रतिशत तक जल चुकी थी बस सांसे आ जा रही थीं। हसन को भी पछतावा हुआ कि काश तलाक दे देता, लेकिन ऐसा न होता, ये तो गुनाह हो गया।

हसन से रेशमा मिलना चाहती है सुनकर हसन पास पहुँचा, दहक और छूटती सांसें के बीच अटकते हुए रेशमा का बोलना जारी था - हसन तुम बाप बन सकते हो, ये बच्चा तुम्हारा ही था जिसे तुमने मार डाला' और चीखते हुए आखिरी गुहार लगाई 'मुझे बचा लो, मैं जीना चाहती हूँ, अपने बच्चे के लिये!' और उसकी चीख रिश्तेदारों की सिसकियों के बीच खो गई, रेशमा अपने अजन्में बच्चे के साथ मर चुकी थी।

हसन ने अपना सर थाम लिया।

संपर्क : kandpalshashi@gmail.com



किसी एक स्पार्क से जैसे इंजन स्टार्ट हो जाता है, वैसे ही किसी बात से, किसी छोटी सी घटना से स्मृतियों की रेल प्रारंभ हो जाती है। स्मृतियाँ रेल के डब्बों की तरह आती हैं, एक के पीछे एक, एक दूसरे से जुड़ी हुई। एक दूसरे के पीछे दौड़ती हुई, समय की नाक में नकेल डाले हुए। वक्त के चाक को विपरीत घुमाती हुई। विवेक, बुद्धि, ज्ञान के अस्तित्व को झुठलाती हुई।

शाम के लगभग सात बजे का समय रहा होगा। कार्यालय से लौटकर मुँह-हाथ धोकर अभी बैठा ही था कि फोन की घंटी बज उठी।

उफ!! किसका फोन है! मन में कोफ्त हुई। कहीं ऑफिस से संबंधित कोई फोन न हो।

आजकल ऑफिस से भी वक्त-बेवक्त फोन आता है। ऑफिस में कार्य का बोझ बहुत बढ़ गया है। ऐसा नहीं कि मैं कार्य से भागता हूँ पर नई-नई तकनीकों के प्रयोग के साथ ही अजीब-अजीब काम भी हो रहे हैं। पोस्ट-ऑफिस पिछले कई वर्षों से प्रयोग का अड्डा बनकर रह गया है। दुनिया में हर तरह के काम पोस्ट-ऑफिस के जिम्मे किये जा रहे हैं। सरकार भी अब बनियों की तरह कम लोगों से ज्यादा से ज्यादा काम करवाना चाह रही है।

किसका फोन है? फोन उठाते क्यों नहीं? पत्नी ने रसोई से पुकारा, जहाँ वह चाय बना रही थी। पोस्ट ऑफिस की नौकरी में यह खासियत रही कि कार्यालय की अवधि के उपरांत कभी रुकने की जरूरत नहीं पड़ी, लेकिन लगता है अब सुख के वे दिन गए।

झाड़ूंग रुम से ही सटा रसोई घर है। यह लगभग रोज का ही नियम है कि मेरे ऑफिस से आने के बाद पत्नी चाय बनाती है, फिर हम दोनों मिलकर चाय पीते हैं।

‘जीवन में सुख क्या है?, संग बैठकर शांति से चाय पीना’। पत्नी का प्रिय कथन है।

अनमने ढंग से फोन उठाया तो देखा कि कोई नया अपरिचित नंबर है। कौन हो सकता है? मन को आजकल अक्सर कई दुश्चिंताएं आ घेरती हैं?

मोबाइल पर हरे बटन को दबाकर कान से फोन लगाया तो उधर से एक महिला की आवाज थी ..

विनय?’

हाँ, विनय बोल रहा हूँ।

नहीं पहचाने? मैं रश्मि।



रश्मि !!!!

कहीं ये वही रश्मि तो नहीं। बचपन से लेकर युवावस्था की कई स्मृतियाँ एक साथ बिजली की तरह कौंध गयी।

मैं बलभद्र प्रसाद की बेटी ..

अब तो संदेह की कोई संभावना नहीं थी। आवाज भी साफ पहचानी जा रही थी।

रश्मि! इतने वर्षों के बाद ?

कैसी हो? कैसे याद किया? कहाँ से बोल रही हो? कई सारे प्रश्न मैंने एक साथ पूछ डाले।

उधर से एक क्षीण सी हँसी 'ठीक हूँ, तुमलोग बताओ कैसे हो? तुम्हारा नंबर नहीं था। अभी हाल ही में सुबोध जी रॉंची गए थे तो वहीं किसी से तुम्हारा नंबर मिला।'।

उसकी हँसी में न जाने कौन सी ऐसी बात थी मुझे लगा कि वह बहुत कुछ कहना चाह रही है पर कह नहीं पायी।

सुबोध जी कैसे हैं? क्या कर रहे हैं आजकल?

वे भी ठीक ही हैं, यही हैं पटना में। कुछ नहीं कर रहे हैं, घर में ही बैठा- बैठी है।

फिर वही मरियल हँसी, जिसकी अंतरध्वनि में कहीं कुछ अनकहा सा था।

रश्मि का परिवार और हमारा परिवार दोनों पड़ोसी थे और बरियातू रोड के सरकारी क्वार्टर्स में रहते थे। साथ ही मेरे पिता की रश्मि के पिता से गाढ़ी दोस्ती थी, इसलिए पारिवारिक संबंध ज्यादा ही प्रगाढ़ था। ऐस्बेस्टस शीट की छतों वाले क्वार्टर्स पास-पास ही बने थे। आमने-सामने चार-चार क्वार्टर्स का एक सेट बना था। रश्मि का परिवार हमारे सामने वाली लाइन वाले क्वार्टर्स में रहता था। दोनों लाइन के क्वार्टर्स के बीच में

एक पीपल का बड़ा सा पेड़ था, जिसके चारों तरफ चबूतरा बना था। दोपहर के भोजन के पश्चात कालोनी की महिलाओं का वह पसंदीदा स्थान था, जहां दुनिया भर की बातें हुआ करती थी।

रश्मि कमर तक लटके बालों और भरी-भरी देह वाली सुंदर लड़की थी। जब वह बीएससी के अंतिम वर्ष में थी, तभी उसके लिए शादी का एक रिश्ता आया था। रिश्ता अनुराग का था, जो तब ओएनजीसी में इंजीनियर था। रश्मि के परिवार के लिए इससे बड़ी खुशी की कोई बात नहीं हो सकती थी। रश्मि के पिता बलभद्र प्रसाद मामूली किरानी थे और मेरे ही पिता के साथ शिक्षा विभाग में कार्य करते थे। तब किरानी का वेतन इतना ही था कि दो बेटी और दो बेटों सहित छह लोगों के परिवार की गाड़ी आधे महीने का सफर बड़ी मुश्किल से कर पाती थी।

रश्मि परिवार की बड़ी बेटी थी। सब उसकी किस्मत को सराह रहे थे। आज के जमाने में भी बिना परेशानी के इतना सुंदर रिश्ता घर बैठे आया है, यह लड़की की किस्मत ही तो है। सचमुच यह किसी अजूबे से कम नहीं था कि तत्कालीन समाज में इस तरह का रिश्ता घर बैठे आजाए।

अनुराग का परिवार प्रगतिशील विचारों का पढ़ा-लिखा परिवार था। अनुराग के पिता राज्य सरकार की सेवा में अफसर थे। अनुराग ने रश्मि को किसी शादी समारोह में देखा था और मन ही मन पसंद कर लिया था। जब उसने अपने माता-पिता को अपने मन की बात बतायी तो वे सहर्ष इस रिश्ते के लिए मान गए थे। रश्मि सुंदर, पढ़ी-लिखी और स्वजातीय भी थी।

रश्मि की शादी बिना दहेज के अच्छे परिवार में हो जाएगी, इस खुशी से बलभद्र प्रसाद और



उनकी पत्नी मालती दोनों स्वयं को सातवें आसमान पर महसूस कर रहे थे। एक बेटी की शादी बिना परेशानी के हो जाना बड़ी उपलब्धि की तरह लग रहा था। सगे-संबंधियों को भी धीरे-धीरे सूचना हो गयी कि रश्मि की शादी एक अच्छे घर परिवार में तय हो गयी है।

उधर अनुराग के घर में भी खुशी का माहौल था। लड़का अच्छी नौकरी पा गया था और अब मनचाही लड़की से शादी भी हो रही थी। सबसे अच्छी बात यह थी कि अनुराग ने स्वजातीय लड़की पसंद की थी। अपनी तमाम प्रगतिशीलताओं के बावजूद अनुराग के माता-पिता इस मानसिक अवगुंठन से नहीं निकल पाए थे। एक दिन अनुराग की बुआ, उसकी बड़ी बहन और माँ आकर रश्मि को देख गये और शगुन में कुछ रुपये देकर शादी पक्की करने की औपचारिकता भी पूरी कर गए। घर में रंगाई-पुताई का काम भी शुरू कर दिया गया।

बलभद्र प्रसाद की खुशी किसी बच्चे सरीखी थी, जिसे बिना मांगे टॉफी या खिलौना मिल गया हो। वे लगभग रोज ही हमारे घर आते थे और मेरे पिताजी के साथ बैठकर शादी की योजनाएं बनाते। उन्होंने भविष्य निधि से पैसे निकालने के लिए आवेदन भी कर दिया। कुछ पैसे उन्होंने पोस्ट ऑफिस में जमा कर रखे थे। कुल मिलाकर इतने पैसे का प्रबंध वे आसानी से कर पा रहे थे, जिससे बारात को खिलाने-पिलाने और शादी के अन्य खर्च का निर्वहन हो सके। बेटी अफसर के घर में जा रही है तो बारात की इज्जत अच्छे से करनी होगी।

लेकिन हँसी-खुशी के आकाश में काले मेघों ने अचानक डेरा डाल दिया। एक दिन रश्मि ने घोषणा कर दी कि वह अभी शादी नहीं करना चाहती है।

शादी नहीं करना चाहती है? ?

‘नहीं मुझे अभी अपना भविष्य बनाना है।’

रश्मि ने दृढ़तापूर्वक कहा था।

भविष्य बनाना है!! ये अचानक इसे क्या हुआ।

माँ-बाप सहित पूरा परिवार अचंभित रह गया। पहले ऐसी बात क्यों नहीं बतायी? और अगर भविष्य बनाना ही है तो शादी के बाद भी बना ले।

बात जब अनुराग के परिवार तक पहुंची तो अनुराग ने स्वयं आगे बढ़कर कहा कि शादी के बाद वह इस बात का पूरा ख्याल रखेगा कि रश्मि आगे अपने पढ़ाई जारी रख सके और अपना भविष्य बना सके। अनुराग के पिता ने भी कहा कि यह तो बड़ी खुशी की बात है कि उसकी बहू आगे पढ़ना चाहती है। वे लोग उसकी आगे की पढ़ाई में पूरी मदद करेंगे।

तूफान जब शांत हुआ लग ही रहा था और बलभद्र प्रसाद ने शादी की तैयारियां फिर से शुरू कर दी थी कि तभी रश्मि ने फिर से एक बम विस्फोट कर दिया। इस बार उसने कहा कि उसे अनुराग पसंद ही नहीं है।

पर अनुराग में खराबी क्या है? अच्छा खानदान है, अच्छा खासा जवान लड़का है। अच्छी नौकरी है। कोई ऐब तो बताए? हीरा जैसा लड़का है, अच्छा चरित्र, अच्छा परिवार, अच्छी नौकरी, अच्छी पढ़ाई, अच्छे लोग। और शादी के लिए एक लड़के में क्या चाहिए होता है?

नहीं, वह बहुत जल्दी चंडूल होने वाला है।

चंडूल होने वाला है ??

हाँ, उसके बाल उड़ रहे हैं और बहुत जल्दी गंजा हो जाएगा।



जिसने भी सुना, उसे हैरत हुई। यह भी शादी तोड़ने की कोई बात हुई। और अगर शादी नहीं ही करनी थी तो शुरू में ही मना कर देती। बात को इतनी दूर तक बढ़ाने की जरूरत क्या थी?

अपना नहीं तो लड़के वालों के परिवार के इज्जत का ख्याल तो रखती!

अपनी सुंदरता का इतना भी अभिमान नहीं करना चाहिए!

सबने उसे मनाने-समझाने की कोशिश की, लेकिन सब व्यर्थ। रश्मि अपनी जिद पर अड़ी रही।

पीपल पेड़ के नीचे चबूतरे पर कई दिनों तक यह बात चर्चा का विषय बनी रही।

पड़ोसी होने के नाते मेरे माता-पिता ने भी समझाने की कोशिश की कि बेटी ऐसी जिद न करो। ऐसा अच्छा परिवार और ऐसे लड़के का रिश्ता बार-बार नहीं मिलता। दैनिक सुंदरता क्षणभंगुर होती है। कोई व्यक्ति मन से कितना सुंदर है, वह तुम्हें प्यार कितना करता है, यह ज्यादा महत्वपूर्ण है।

लेकिन रश्मि टस से मस नहीं हुई।

धन-दौलत, नौकरी, परिवार, खानदान लेकर क्या करूंगी? जब लड़का ही पसंद नहीं है तो संपत्ति का क्या करूंगी? शादी लड़के से करनी है या उसकी नौकरी और संपत्ति से?

इस बात का किसी के पास कोई जवाब नहीं था।

शादी तो लड़के से ही करनी है। कोई इस बात से कैसे इनकार कर सकता है? सारे लोग तर्कहीन, सारे लोग निरुत्तर।

बेटी की जिद के आगे माँ-बाप हार गए। सबने नई शिक्षा और आधुनिक वातावरण को इसके लिए दोष दिया और चुप बैठ गए।

जवान बेटी है, कहीं कुछ उल्टा-सीधा न कर बैठे, इस डर से बात वहीं छोड़ दी गयी। अनुराग के परिवार वालों ने लेकिन उम्मीद न छोड़ी। उन्हें उम्मीद थी कि रश्मि एक दिन हों कर देगी।

किसी को कोई कारण समझ नहीं आ रहा था कि आखिर रश्मि ने ऐसा क्यों किया।

कोई प्यार-मुहब्बत का चक्कर तो नहीं?

एक दिन रश्मि के माता-पिता ने उससे पूछा भी था कि अगर कोई लड़का तुम्हें पसंद है तो बता दो, हम क्यों परेशान होंगे।

लेकिन रश्मि ने साफ-साफ कहा कि नहीं ऐसी कोई भी बात नहीं।

इस घटना से अनुराग के परिवार वाले बड़े विचलित हुए थे। अनुराग से ज्यादा धक्का उसके माँ-बाप को लगा था। उन्होंने सपने में भी नहीं सोचा था कि किसी साधारण परिवार की लड़की उनके सर्वथा योग्य बेटे को इस तरह से अस्वीकार कर देगी।

किसका फोन था ?

पत्नी चाय लेकर आ गयी थी।

रश्मि का.. वो बचपन में हमारी पड़ोसन थी।

‘अच्छा! बहुत दिनों के बाद पड़ोसन को आपकी याद आई। पड़ोसन ही थी या कुछ और’। पत्नी ने चुहल की।

पड़ोसन थी या कुछ और .... पत्नी ने यूँ तो चुहल की थी लेकिन स्मृतियों ने पूर्व की एक घटना का सिरा पकड़ा दिया।

इस रिश्ते के टूट जाने से कुछ मेरे अंदर भी घटा था। जब किसी को रश्मि के निर्णय की वजह समझ में नहीं आ रही थी। मुझे इसका कारण स्पष्ट दिख रहा था। मेरे मन में कई



समीकरण बनने लगे थे और अपने अनुसार मैं उनकी निष्पत्तियाँ तय करने लगा था।

मुझे यह लगा था कि रश्मि के इस निर्णय के केंद्र में मैं ही हूँ। ऐसा निर्णय रश्मि ने मेरे कारण ही लिया। रश्मि का कई बार मेरे प्रति कन्सर्न दिखाना, उसके यहाँ जाने पर मेरे खाने-पीने का विशेष ध्यान रखना, मैंने पहले भी महसूस किया था। मन में कहीं न कहीं एक चोर आकर्षण रश्मि के प्रति तो था लेकिन रश्मि के मन में भी ऐसा कुछ है यह कभी समझ नहीं पाया था इसलिए मन का यह चोर कभी बाहर नहीं आ पाया था। अब जब इन बातों के सिरों को जोड़ना शुरू किया तो चीजें बहुत स्पष्ट होने लगीं थीं। मैं ही बेवकूफ था, जो अब तक कुछ समझ नहीं पाया था। अब सब कुछ शीशे की तरह साफ हो रहा था। मेरे कारण रश्मि ने इतना बड़ा कदम उठा लिया था। एक लड़की की अपनी मर्यादा होती है। प्रेम में वह सब कुछ साफ-साफ नहीं कहना चाहती है।

इन बातों का असर यह हुआ कि अब कई बार मैं रश्मि के माँ-पिताजी से नजरें बचाने लग गया था। कहीं उन्हें शक तो नहीं हो रहा कि यह रिश्ता मेरी वजह से टूटा था।

इस बीच रश्मि के ख्यालों ने मेरे मन पर पूरी तरह कब्जा कर लिया था। उसकी हर बात मुझे अच्छी लगती। उसकी आँखों की चंचलता मुझे घंटों वश में किए रहती। उसके बोलने का आरोहण-अवरोहण अत्यंत विशिष्ट लगता। उसकी हर छोटी से छोटी बात उसकी नैसर्गिक और अनोखी अदा सी लगती। उस जैसा इस संसार में कोई दूसरा नहीं। मैंने इधर अनुभव किया था कि इस रिश्ते के टूटने के बाद रश्मि की मुझसे नजदीकियाँ बढ़ गयी थी। छोटी छोटी बातों में वह बड़े अधिकार से मुझसे मदद मांगती। वह

मुझसे गाहे-बेगाहे छोटी-छोटी बात पर सलाह लेती।

कई बार जी में आता कि रश्मि से खुलकर अपने मन की बात कहूँ या उससे उसके मन की बात पूछ लूँ, लेकिन फिर अचानक से आशंकाओं से मन भर जाता। अभी तक मैं रश्मि के मन के प्रति आश्वस्त नहीं था। अगर मैं गलत हुआ तो? अगर रश्मि के मन में ऐसा कुछ न हुआ तो? कहीं यह मेरे मन का भ्रम तो नहीं। यह भय दिल को बैठाने लग जाता। अगर मेरे माँ-पिता को इसके बारे में पता चल गया, तो मैं उन्हें क्या मुँह दिखाऊँगा।

समय ने अपनी गति बढ़ा दी थी। सब कुछ फास्ट? फारवार्ड मोशन में चलने लगा था। यद्यपि कि मेरे मन में जलतरंग जब न तब बज उठते थे, लेकिन उसपर कोई अपने मन का गीत मैं नहीं गा पा रहा था।

मुहल्ले में सब कुछ सामान्य चल रहा था। लोग धीरे-धीरे रश्मि के रिश्ते के टूटने की बात भूलने लगे थे। लोग अपने कामों में व्यस्त थे। फुरसत में बैठी औरतों को बात के लिए नवीन विषय मिल गए थे।

रश्मि टीचर ट्रेनिंग की तैयारी में लग गयी थी। मैं भी ग्रैजुवैशन करने के बाद नौकरी की तैयारी में लग गया था साथ ही मैं कुछ ट्यूशन भी लेने लग गया था।

इसी बीच दिल तोड़ने वाली सबसे बड़ी वारदात हुई थी। एक उड़ती हुई खबर मिली कि रश्मि का सुबोध से अफेयर चल रहा है। यह खबर नहीं तीर था जो सीधे आकर मेरे दिल में धंसा था।

हालांकि एकबारगी मेरा मन इस बात को मानने के लिए तैयार न हुआ। रश्मि भला ऐसा कैसे कर सकती है? लेकिन मैंने स्वयं भी एक



बार रश्मि और सुबोध को कांके डैम के पास साथ घूमते हुए देखा था।

प्रत्यक्ष प्रमाणम्! अब मुझे किस प्रमाण की आवश्यकता थी। किसी तरह तीर को सीने से निकाल बाहर किया और लहलुहान दिल को वक्त के हवाले कर दिया।

सुबोध देखने में सुंदर और स्मार्ट था। हमारे ही मुहल्ले के सुभाष बाबू उसके मामा लगते थे, जहाँ वह यदा-कदा आता-जाता रहता था। उसके माँ-बाप मुंगेर में रहते थे। लेकिन हाल के दिनों में उसका राँची आना-जाना बढ़ गया था। पहले तो मुझे समझ में नहीं आया था कि उसका आना-जाना इस कदर क्यों बढ़ गया है। लेकिन जब दोनों के प्रेम संबंधों की बातें सुनी तो सारी कहानी स्पष्ट हो गयी।

‘खैर, खून, खाँसी, खुशी, बैर, प्रीत, मधुपान’ भला कब छुपाये छुपे हैं।

रश्मि और सुबोध के किस्से शीघ्र ही हमारे उस निम्न मध्य-वर्गीय मुहल्ले के लिए चर्चा का विषय बन गए थे। पीपल का पेड़ इन चर्चाओं का गवाह बना। चूंकि रश्मि ने एक रिश्ते को ठुकराया था, जिसे मुहल्ले वालों ने पसंद नहीं किया था, खासकर महिलाओं को तो इस बात की चर्चा में उन्हें बहुत मजा आने लगा था।

सुबोध को मैं पहले से ही जानता था। आज के समय के अर्थ में देखें तो वह एक बैड-ब्वाय था। वह फैशनेबल कपड़े पहनता था, मिथुन चक्रवर्ती की तरह पीछे बड़े-बड़े घुमावदार बाल रखता था और चौराहे पर मधुवन पान भंडार के सामने खड़े होकर अक्सर सिगरेट पीता दिख जाता था।

जब रश्मि और सुबोध के प्रेम संबंध की चर्चा आम हो गयी तो बलभद्र प्रसाद सुबोध के मामा सुभाष बाबू के मार्फत शादी की बात लेकर

सुबोध के माता-पिता से मिलने गए।

रश्मि के द्वारा अनुराग को छोड़कर सुबोध को चुनने की कोई वजह किसी को समझ नहीं आई। दोनों में कोई तुलना नहीं थी, सिवा इसके कि सुबोध अनुराग से ज्यादा सुंदर और स्मार्ट था।

रश्मि की शादी के अलावे बलभद्र प्रसाद की अन्य जिम्मेवारियाँ भी थी, इसलिए वे जल्दी से एक शादी से निबट लेना चाहते थे। रश्मि ने चूंकि लड़के को पसंद कर लिया था इसलिए, उन्होंने इस शादी को जल्दी निबटाना ही उचित समझा। वैसे भी एक बार रश्मि की जिद वे देख चुके थे।

‘जिसके नसीब में जो होता है, उसको वही मिलता है, बैजनाथ बाबू। हमारे आपके चाहने से क्या होता है? इसलिए जिसमें बेटी खुश, उसी में हमलोग भी खुश। कम से कम लड़का अपनी जान-पहचान का तो है’। बलभद्र प्रसाद ने मेरे पिता से कहा था।

रश्मि और सुबोध का विवाह शीघ्र ही निबट गया। विवाह के उपरांत सामान्य रूप से कहानी खत्म हो जानी चाहिए थी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। मुहब्बत के समंदर में रश्मि की नाव शीघ्र ही हिचकोले खाने लगी थी। रश्मि की सास अपने बेटे की इस शादी से सख्त नाराज थी।

हमारे बेटे के लिए तो एक से एक रिश्ते आ रहे थे। लेकिन न जाने इसे क्या सूझा जो इसने एक कंगले की बेटी को पसंद किया।

रश्मि की सास को लगता था उसके लड़के ने जिद करके इस लड़की से शादी कर ली और उन्हें मिलने वाले दान दहेज से वंचित कर दिया।

यद्यपि कि बलभद्र प्रसाद ने अपने सामर्थ्य के मुताबिक दान-दहेज देने में कोई कमी नहीं छोड़ी थी, फिर भी ससुराल वालों की आकांक्षा



मोटे दहेज की थी, जो पूरी न हो सकी थी।

शादी के कुछ समय पश्चात वह हुआ जिसकी अपेक्षा न रश्मि को थी और न ही बलभद्र बाबू को। कली मानो पुष्पित होने के पहले ही मुरझाने लग गयी। सुबोध रश्मि को रँची पहुँचा गया था। जब बहुत दिन बीत गए और रश्मि को वापस ले जाने नहीं आया तो बलभद्र प्रसाद को खटका हुआ। उसने रश्मि से सारी जानकारी ली तब जाकर मालूम हुआ कि उसके ससुराल वालों को दहेज चाहिए, तब जाकर उसे ले जाएंगे।

‘ये लोग तो बड़े बेकार निकले। मैंने सोचा था कि जानकार लोग हैं तो लड़की का जीवन आसान रहेगा। लेकिन यहाँ तो उल्टा हो रहा है। अब बताइए बैजनाथ बाबू क्या किया जाए?’ बलभद्र प्रसाद मेरे पिता के पास आए थे और बहुत चिंतित दिखाई दे रहे थे।

‘आप मेरे साथ चलिए, चलकर सुबोध के माँ-बाप से बात की जाए। ऐसे लड़की को कैसे छोड़ सकते हैं।’ उन्होंने मेरे पिता से कहा।

हाँ, जाना ही चाहिए जाकर पूछा जाए कि आखिर वे लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं। लेकिन मेरी तबीयत ठीक नहीं है, आप ऐसा कीजिए विनय को अपने साथ ले जाइए।

मेरी जाने की कोई इच्छा नहीं थी, लेकिन मैं मना भी नहीं कर पाया।

मैं और बलभद्र प्रसाद दोनों मुंगेर सुबोध के घर पहुँच गए थे। गर्मी का दिन था। रात भर बस में बैठकर हम सुबह-सुबह वहाँ पहुँचे थे। सुबोध के घर के आगे लोहे का एक छोटा सा दरवाजा लगा था और उसके ठीक बगल में एक अड़हुल का छोटा पेड़ था, जिसकी छाया में दरवाजे से सटकर एक कटकटाहा कुत्ता बैठा था। हमें देखकर वह भौंकते हुए हमारी ओर काटने को लपका। किसी तरह हमने भागकर

खुद को बचाया। लेकिन एक मुसीबत से बचते ही दूसरी मुसीबत ने आ घेरा।

सुबोध की माँ ने बलभद्र प्रसाद को देखते ही उसी रफ्तार से भला-बुरा कहना शुरू कर दिया था, जिस रफ्तार से वह कुत्ता भूँक रहा था।

वह बार-बार कहने लगी कि आपकी बेटी के चक्कर में मेरे बेटे का जीवन बर्बाद हो गया।

मुझे बड़ा गुस्सा आया।

‘शादी क्या जबरदस्ती कर ली गयी थी या आपकी मर्जी से हुई थी? आपलोग बारात लेकर गए थे।’

बलभद्र प्रसाद ने मेरा कंधा दबा दिया और चुप रहने का इशारा किया।

वे किसी तरह अपनी बेटी का घर बसता हुआ देखना चाहते थे।

हमारा बेटा तो बेवकूफ था। लड़की को देखकर अंधा हो गया था। आप लोग तो मौके पर चौका मार लिए।

‘हद बात है! लड़का अंधा था, आप लोग तो आँख वाले थे।’

अचानक उस औरत का ध्यान इस बात की ओर गया कि मैं कौन हूँ।

आप तो पड़ोसी हैं ना? पड़ोसी हैं या कुछ और? इस बात के साथ ही एक कुटिल मुस्कान उसके चेहरे पर फैल गयी। उसकी इस कुटिल मुस्कान के निहितार्थ को समझना मुश्किल नहीं था।

आप क्यों नहीं शादी कर लिए थे, आप भी तो हमारे ही जाति के हैं?

मैं चुप पड़ गया। बलभद्र प्रसाद भी लज्जित होकर दूसरी तरफ देखने लग गए थे। उनकी आँखों में आँसू की बूंदें थी। ———

लीजिए चाय पीजिए.. पड़ोसन की बात पर कहाँ खो गए?



क्या कह रही थी पड़ोसन?

मुझे लगता है उसे कुछ मदद चाहिए।  
लेकिन उसने कुछ कहा नहीं।

कहा नहीं तो आपने जाना कैसे?

कुछ बातें बिना कहे समझ आ जाती है।  
बातों के क्रम एवं प्रसंग कुछ इशारे कर देते हैं,  
जिससे इंसान अनकही बातें समझ जाता है।  
परिस्थितियाँ आदमी को भरे बाजार में नंगा होने  
को बाध्य कर देती हैं।

हाँ, सो तो है। उसके पति क्या करते हैं?

कह रही थी कि पति कुछ नहीं करते वह  
स्वयं पटना में ट्यूशन पढ़ाती है।

‘जानती हो, अनुराग जिसे उसने शादी के  
लिए रिजेक्ट कर दिया था आज ओएनजीसी में  
जनरल मैनेजर है। बहुत बड़ी हैसियत है उसकी’।

मुझे याद है इस रिजेक्शन ने कैसे दोनों  
परिवारों को व्यथित कर दिया था। तब उसने  
कहा था कि धन-संपत्ति लेकर क्या करूंगी, लड़के  
की नौकरी और उसकी तनखाह किस काम की  
है, जब लड़का ही पसंद नहीं है।

आज रश्मि कह रही थी कि उसका बच्चा  
बीमार है और उसके पास इलाज के लिए पैसे  
नहीं हैं। बहुत मुश्किल से बारह हजार रुपये वह  
कमाती है, जिससे घर का खर्च चलता है।

किराये के मकान में रहती है और एक  
साल से किराया नहीं दे सकी है। मकान मालिक  
भला आदमी है, जिसने अभी तक घर खाली  
नहीं करवाया है। बच्चों की फीस नहीं भर पायी  
है।

‘तुम क्या सोचती हो, क्या अब वह अपने  
निर्णय पर पछताती होगी?’

‘जीवन में पीछे लिए गए निर्णय पर क्या  
पछताना? तब तो उसे जो अच्छा लगा उसने  
वही किया। प्रेम से बढ़कर कोई दूसरा सुख भी

तो नहीं। उसने तो प्रेम विवाह किया था। भविष्य  
को भला कौन देख सकता है’। पत्नी ने समझाया।

सचमुच भविष्य को भला कौन देख सका  
है और प्रेम के आगे सब धन मूल्यहीन ही तो है।  
लेकिन अनुराग भी तो रश्मि से प्रेम करता था।

‘लेकिन रश्मि तो नहीं करती थी न!

इकतरफा प्रेम, प्रेम नहीं आकर्षण होता  
है।’

‘आकर्षण तो प्रेम के मूल में होता है।  
रश्मि का सुबोध से प्रेम आकर्षण की वजह से ही  
तो हुआ।’

‘आकर्षण तो ठीक है, पर कभी-कभी क्या  
आपने नहीं देखा कि बहुत ही असाधारण रूप  
वाले लड़के या लड़कियाँ साधारण नैन नक्श  
वाले लड़की या लड़के से प्रेम कर बैठते हैं। सो  
आकर्षण तो होता है, लेकिन यह दैहिक सौन्दर्य  
का ही आकर्षण हो जरूरी नहीं। आकर्षण कई  
वजहों से हो सकता है।’

मुझे समझ आ गया कि प्रेम संबंधी ज्ञान  
पत्नी के पास ज्यादा था।

बहुत ही लंबी खींचतान के बाद सुबोध  
रश्मि को मुँगेर ले गया था। शायद बलभद्र प्रसाद  
ने कुछ रुपये भी दिए थे।

इस घटना के बाद बलभद्र प्रसाद थोड़े  
दुखी रहने लगे थे। मुहल्ले में मिलना जुलना भी  
उन्होंने कम कर दिया था। उन्हें लगता था कि  
मुहल्ले वाले उनकी स्थिति पर हँस रहे हैं।

बाद में पता चला कि सुबोध राजनीति  
करने लगा है। अक्सर उसकी तस्वीरें इधर-उधर  
किसी बड़े नेता के साथ दिख जाती थी। कई  
बार तो बलभद्र प्रसाद या उनकी पत्नी अखबार  
में छपी तस्वीर मुहल्ले वालों को दिखाया करते  
थे। ऐसा लगता था मानो वे रश्मि के निर्णय को



सही ठहराने की कोशिश करते थे।

लेकिन सुबोध को किसी काम में मन नहीं लगा था। राजनीति भी रास नहीं आई। राजनीति दरअसल एक कला है। यह एक ऐसा खेल है, जिसमें पैसे खर्च होते हैं। अब राजनीति मुफ्त की सेवा की चीज नहीं रह गयी। जो लोग राजनीति से कमाई कर पाते हैं वहीं इस काम में टिके रह पाते हैं। बाद में उसने किसी दवा कंपनी में एमआर की नौकरी कर ली।

रश्मि की शादी के बाद उसकी छोटी बहन विनीता को मैं मैथ्स की ट्यूशन पढ़ाने जाता था। वह पढ़ने में अच्छी थी, पर मैथ्स में कमजोर थी। बलभद्र प्रसाद शायद किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने मुझे कहा था कि मैं विनीता को ट्यूशन दे दिया करूँ।

एक दिन मैंने उसकी किताब में एक प्रेम-पत्र देख लिया था। पता नहीं उस दिन मुझे क्या हुआ, मैं किस आवेग में आकर बह गया! अचेतन में जाने कौन सी बात बैठी थी, जिसने मेरे विवेक को अपने कब्जे में ले लिया। मैंने वह चिट्ठी ली और सीधे जाकर बलभद्र प्रसाद के हाथों में रख दी। बलभद्र प्रसाद ने कुछ नहीं कहा, वे अवाक हो गए। उनका चेहरा अजीब डरावना सा हो गया था। मुझे अब भी उनका चेहरा याद है। मुझे डर लगा कि कहीं उन्हें कुछ हो न जाए।

उसके बाद से विनीता की आगे की पढ़ाई बंद करा दी गयी। मैं आज तक इस अपराध बोध से स्वयं को निकाल नहीं पाया हूँ। मैंने कहा भी था, कि मैं ट्यूशन पढ़ा दिया करूँगा लेकिन इसके लिए विनीता ही राजी नहीं हुई। उसने शायद मुझे कभी क्षमा नहीं किया होगा।

मुझे इस घटना का बड़ा अफसोस हुआ। क्या मैंने रश्मि का बदला विनीता से लिया था? मुझे कभी इसका उत्तर नहीं मिला। एक लड़की की जिंदगी मेरे कारण खराब हो गयी थी। विनीता शिक्षक बनना चाहती थी। उसके मन में कई ख्वाब थे। सारे ख्वाब जिस शीशे के जार में बंद थे, उसे किसी कठोर पत्थर पर पटक दिया गया और सारे ख्वाब, छितरा गए। मैंने कभी शीशे को कभी ख्वाबों को बटोरने की कोशिश की। लेकिन विनीता ने कभी इस पर ध्यान नहीं दिया।

उसके कुछ ही महीनों के बाद बलभद्र प्रसाद रिटायर कर गए थे एवं राँची में ही दूसरी जगह रहने चले गए थे। उसके बाद से हम लोग का संपर्क भी उनसे और उनके परिवार से धीरे-धीरे कम होता चला गया।

लेकिन आज इतने दिनों के बाद रश्मि के फोन ने स्मृतियों के तार को कुछ यूँ झंकृत कर दिया कि बीते समय की कई सारी बातें ताजा हो आयी।

‘जो गलती आपने पहले की उसे सुधारा तो नहीं जा सकता लेकिन कुछ हद तक पश्चाताप तो किया ही जा सकता है। पत्नी ने चाय का कप टेबल पर से समेटते हुए कहा।’

‘सो कैसे?’

‘रश्मि से पूछकर उसके बच्चों की फीस भर दीजिए। उसके बच्चों की पढ़ाई रुकनी नहीं चाहिए’।

‘हाँ ठीक ही कहती हो। इसी बहाने विनीता के बारे में भी पूछ लूँगा। उसका क्या हुआ? क्या कर रही है आजकल?’



रचना सुमन को दुल्हन के जोड़े में देख भावुक हो उठी। उनकी पलकें भींग गई। वह जल्दी से बढ़कर उसे गले लगा ली। अपनी आँखों से काजल ले उसके कानों पर टीका लगाकर बोली 'नजर न लग जाए मेरी लाडो, एकदम परी लग रही है।'

सुमन सुर्ख लाल जोड़े में सजी विदाई के लिए खड़ी थी। बस दो पल और फिर इस घर से विदाई...पराई हो जाएगी मेरी बेटी...!! रचना रो पड़ी। 'माँ...मत रो... माँ...'

यही शब्द रचना के अंतरात्मा तक कचोट जाता है, जब भी सुमन उन्हें माँ कहकर पुकारती है। सुमन उनकी बाहों में आ लिपटकर फूटफूट कर रो रही थी। हर बेटी की विदाई ऐसी ही होती है, यही रीत है, यही दुनियादारी भी है। समय बदल जाता है। पात्र बदल जाते हैं, पर कहानी का सार तो एक ही है।

तो रचना भी सुमन की आँखें पोंछकर यही उसे समझा रही थी, 'बिटिया..आज से तुम्हारा ससुराल ही अपना घर है, उसे बहुत ही लगन और प्यार से संभालकर रखना। खुश रहना और सबको भी खुश रखना।'

सबसे गले मिलकर सुमन अपने पिया संग ससुराल चल पड़ी थी और इधर छोड़ गई थी नहीं भूलने वाली अनगिनत यादें। विवाह धूमधाम से सम्पन्न हो गया था। सुमन अपने घर चली गई थी। खाली रह गया था बेटी की विदाई के बाद भरापूरा घर। सब कुछ व्यवस्थित करके रचना जी सुमन के कमरे में ही आकर लेट गई। पूरा कमरा उसकी सुघड़ता और सुयोग्यता की बखान कर रहा था। वह बहुत ही थकी थी, सोना भी चाह रही थी, पर उनकी आँखों में नींद कहाँ थी...वह तो पहुंच गई थीं कई साल पहले की दुनिया में जब सुमन मुश्किल से तीन साल की रही होगी।

तब धीरेन जी का ट्रांसफर मध्यप्रदेश के एक छोटे से शहर सूरज कुंडा में हो गया था। सूरजकुंडा बहुत बड़ा भी नहीं, बहुत छोटा भी नहीं था। एक सामान्य सा शहर। आदिवासी बहुल इलाका। बहुत ही सरल हृदय और मिलनसार वहां के लोग। धीरेन बिजली विभाग में अभियंता थे। विभाग ने उनका प्रमोशन करके वहां भेजा था। विभाग ने ही आवास, वाहन आदि की सारी सुविधाएं दी थी।

शांता कुमारी को भी विभाग ने ही गृहकार्य के लिए भेजा था।

रचना के तीनों बच्चे आकाश, अंबर और वसुधा छोटे थे। स्कूल जाते थे। वसुधा, रचना की छोटी बेटी उसी साल स्कूल जाना शुरू की थी। शांता पढ़ी-लिखी, शादीशुदा युवती थी। उसी की बेटी थी सुमन।



एकदम छोटी सी, गोल मटोल सी...लगभग दो ढाई तीन साल की।

शांता उस को साथ लेकर ही रचना के घर आती। वह और वसुधा दोनों दिन भर खेलतीं, साथ खातीं और गप्पें मारतीं।

वसुधा की वह पक्की सहेली बन गई थी, आकाश और अंबर भी उसे बहुत ही प्यार करते थे। दो तीन महीने में ही शांता घर के सदस्य जैसी हो गई थी। वह अपनी राम कहानी अक्सर रचना को सुनाया करती थी। 'मेरे बापू किशन एक किसान थे भाभी और साथ में सरपंच के यहां कुछ कागजी काम की देखरेख भी करते थे।

मगर पता नहीं सरपंच का दिमाग फिर गया और बापू को झूठे केस में फँसा दिया। उस केस से बाहर निकलने के लिए अपनी सारी जमीन, पूंजी सब बेचते चले गए। हम सब भाई बहन सड़क पर आ गए। किसी तरह से उधार लेकर हमारी शादी करवा दिया।

लड़केवाले बोलते थे कि लड़का पढ़ा लिखा है। कोर्ट में टाइपिस्ट है...पर सब झूठ...एक नंबर का दारूबाज है, चरित्रहीन...परिवार भी वैसा ही है।' हम तो सोचे थे कि अपने बापू को नरक से निकाल लाएंगे...पर भाभी हम तो खुद ही नरक में पहुंच गए हैं।'

दहेज के लालच में शांता को उसका पति हर रात पीटता। उसकी कमाई का सारा रुपया भी हड़प जाता। न जाने कितनी हृदय विदारक बातें शांता बतलाया करती थी।

रचना धीरेन को यह सब बताया करती और कई बार शांता की मदद करने को भी कही, पर...क्या हुआ आज भी वह मंजर याद करके सिहर जाती हैं। उस रात भी शांता पर कहर टूटा था। शांता के सिर पर हाथ पैर, कमर कहाँ उस दरिंदे ने घाव नहीं दिया था।

धीरेन जी और उनके कुछ सहयोगियों ने

मिलकर पुलिस को खबर कर दी थी। कुछ दिन हवालात में रहने के बाद उस कमीने ने घर आकर शांता की जो हालत की...

रचना के रोंगटे खड़े होने लगे। सर्द रात थी। करीब रात्रि के एक बज रहे थे। घर में सारे बच्चे और उनके पति गहरी नींद सो चुके थे। वह खुद भी सो गई थीं। अचानक उन्हें प्यास लगी तो उठकर किचन में पानी पीने गईं। उनको बाहर के गलियारे में किसी के सिसकने की आवाज आई।

वह डर गई। इतनी रात गए...कौन है? उन्होंने धीरे से अपने पति को उठाया। धीरेन भी गहरी नींद में थे। नींद में ही उन्होंने बोला, कोई कुत्ता होगा...जाड़े के कारण रो रहा होगा। रचना बहुत देर तक अपने बिस्तर पर करवटें बदलती रहीं...पर आवाज थमने का नाम नहीं ले रही थी।

तबतक सुबह के चार बज चुके थे। वैसे भी गांव देहात में सुबह जल्दी उठने की लोगों को आदत होती है।

रचना धीरे से दरवाजा खोल मेन गेट पर पहुंची। वहां एक कोरिडोर की तरह संकरा सा लंबा बरामदा था जिसपर लोहे की ग्रिल लगी थी। उसी से सटकर शांता अपनी बेटी को चिपकाए मरणासन्न हालत में बैठी थी। शरीर से खून बह-बहकर जम गया था..वह लगभग बेहोश सी थी।

कुछ जाड़े की ठंड से, कुछ मार के दर्द से!!

शांता...

जोर से चीख उठी रचना। उसी चीख से घर के सारे लोग जाग गए और मृत्यु की आगोश में सिमटती शांता भी आँखें खोल दीं।

'क्या हुआ तुमको... फिर मारा तुमको..उस कमीने ने, तुम्हारा ये हाल कर दिया...रचना चीख रहीं थीं।

'भाभी...किसी तरह से उस कसाई से



छूटकर भागी हूँ..., आज तो मुझे वो मार ही डालता... कुल्हाड़ी खोज रहा था कसाई, कृपा करके मेरी बेटी को बचा...!' हाथ जोड़कर वह बोली।

वह हाँफ रही थी।

'नहीं शांता...हम तुमको अस्पताल ले चलते हैं...!' 'नहीं भाभी..हमारा खेल खत्म...इसको बचा लेना... उस दरिंदे से...!' उसकी साँसें उखड़ गई थी और खुली रह गई थीं उम्मीद से भरी खुली आँखें...इस आशा में कि शायद हम उसकी एकमात्र अमानत बचा लें।

अस्पताल में ऑक्सीजन का सिलिंडर, ग्लूकोज वाटर और तमाम दवाइयों ने भी उसके साँसों को लौटा न पाया। शांता खो गई अपनी अलग दुनिया में और छोड़ गई एक मासूम को एक अनजान औरत के पास। शांता का पति तो हत्या में जेल गया। ससुरालवालों ने सुमन को अपनाने से इंकार कर दिया था।

पूरी कानूनी विधि से धीरेन और रचना ने सुमन को गोद ले लिया। लगभग एक साल और रहे थे धीरेन और रचना सूरजकुंडा में फिर वहां से भी धीरेन का स्थानांतरण हो गया।

....

चारों बच्चे पढ़ाई में होशियार थे। कभी भी बच्चों के पढ़ाई को लेकर रचना को दिक्कत नहीं हुई। सब बच्चे पढ़ लिखकर नौकरी करने लगे। सबके शादी ब्याह भी हो गए।

सुमन तो रचना की सबसे लाडली थी।

सुमन भी एमबीए कर एक प्रतिष्ठित कंपनी में नौकरी करने लगी। अपने ही कंपनी के सहकर्मी विशाल को पसंद कर विवाह करना

चाहती थी। रचना को सुमन की पसंद पर कोई आपत्ति नहीं थी, पर धीरेन थोड़े असमंजस में थे। थोड़ा संस्कार और पुराने खयालात भी थे। पर विशाल के मिलनसार स्वभाव ने धीरेन का दिल जीत लिया।

आज सुख लाल जोड़े में विशाल की पत्नी बनकर सुमन कितनी खुश थी। कितनी प्यारी सी गुड़िया लग रही थी।

'ईश्वर करे बिटिया अपने घर खूब खुश रहे।'

रचना ने अपने आँसू पोंछ लिए।

टीं ..टीं...ओम...रचना का मोबाइल बजने लगा।

सुमन थी।

माँ... फिर रचना का दिल कचोट सा गया।

'माँ...आप सुन रही हैं ना...मुझे पता है...आप मेरे ही कमरे में लेटी हो ना...कुछ खाया भी नहीं होगा...। बस मेरे बारे में ही सोच रही हो...मैं बहुत खुश हूँ...माँ...यहां सबलोग मेरा बहुत ख्याल रख रहे हैं...।

....प्लीज आप जल्दी से खाना खा लो ताकि मेरा भी पेट भर जाए...!'

'हाँ...बिटिया'

'माँ..., आप तो जानती हो कि आप नहीं खाती हो तो मुझे भूख लगी रहती है। आप रोती हो तो मेरा सिरदर्द होने लगता है।'

मेरी प्यारी माँ....मैं कल आऊँगी तब आप मुझे बीमार मत मिलना। प्लीज मम्मा...टेक केयर।'

'हाँ बिटिया...अभी खा लेती हूँ...रचना रो पड़ी।'

**संपर्क :** सीमा प्रियदर्शिनी सहाय, c/o प्रीतम सिंह चौहान, मकान नं 19 समसपुर, पांडव नगर समसपुर, नई दिल्ली - 110091, फोन नं-9313158279



## कहानी में अनुभव और अनुभूति

सिद्धेश

“कहानी मात्र अनुभूति नहीं एक सम्पूर्ण अनुभव है”। - यह श्रीपत राय कहानी पत्रिका के सम्पादक व प्रेमचन्द के ज्येष्ठपुत्र का कथन है।

पिछले दशकों में अनुभव के बरक्स अनुभूति पर ज्यादा जोर दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है।

विचारधारा या सोच के आधार पर रची गयी कहानियों में यह स्पष्ट है कि अनुभूति का प्राबल्य ज्यादा है।

अनुभव के अभाव में कहानियों में सत्य और विचार की अपेक्षा ज्यादा रहती है। कथोपकथन, चरित्रों के गठन में भी शिथिलता देखी गयी है। अनुभव का यह अर्थ नहीं है कि घटना रचनाकार के साथ जुड़ी हो। चाक्षुस देखी गयी तथा सम्पर्कों के आधार पर भी घटना से साक्षत किया जा सकता है। इसके पश्चात रचनाकार के मन में अनुभूति का सिलसिला शुरू होता है।

पथ दुर्घटना में घटित घटना का साक्षात्कार अगर रचनाकार करता है तो उसके वर्णन में वह कोताही नहीं करता, बल्कि उतना ही सचेत और सचेष्ट होता है, जितना वह अपनी आंखों से देख चुका है। उसके बाद उसकी अनुभूति काम करती है। दुर्घटना ग्रस्त चरित्र के प्रति उसकी संवेदना उतनी ही उभर पाती है, जितना वह सोच के स्तर पर पुनर्गठित करता है। उसके बहकने के आसार कम होते हैं।

अर्थात्, चाक्षुष देखी गयी दुर्घटना ही उसका अनुभव है।

प्रेमचन्द की कहानी ‘कफन’ को ही लें तो एक आलोचक के नजरिए से कहा गया यह वाक्य, कितना उदभट और बेबुनियाद है - क्या प्रेमचन्द ने बाप-बेटे ने आलू भकोसते देखा था?

हो सकता है, देखा हो या नहीं देखा हों। लेकिन कहानी में क्या इतना ही संकेत है?

अभाव, भूख, मूर्खता, अशिक्षा, जड़ता, संवेदन-हीनता और उन्माद में सारी प्रवृत्तियां चरित्रों के गठन और वातावरण के निर्माण में संलग्न दिखती हैं।

ऐसी स्थिति में यह दृष्ट है कि रचनाकार ने निश्चय ही किसी साहस का अवलोकन किया होगा तभी इस अनुभूति का प्रार्दुभाव हुआ होगा। यथा बाप-बेटे के बीच के अन्तर्द्वन्द्व, लोभ और अपने हिस्से के आलू के प्रति संदेह, वहीं प्रसव वेदना से तड़पती बहू के देखने के बहाने दूसरा भकोस न ले। यह अहरह घटना रहती है सम्पत्ति को लेकर, बंटवारे में देखी गयी है। यहां अनुभूति के स्तर पर प्रेमचन्द ने काम लिया है। - अनुभव और अनुभूति के साहचर्य का इतना अच्छा उदाहरण कई और कहानियों में मिल सकते हैं।



एक और कहानी है- 'हार की जीत'। मई 1922 में प्रकाशित। इस कहानी का अनुभव यह कहता है कि लोभ और ईर्ष्या पथ लोगों को उगने के लिए अपना लिवास बदल लेते हैं, छद्म वेश में आकर दूसरे को उगने से बाज नहीं आते। कहानी का पात्र खडग सिंह भी यही करता है।

लेखक अपने जीवन में इस किस्म के वाक्यात का अनुभव किया होगा। और तभी अनुभूति के स्तर पर चरित्र और वातावरण की सृष्टि की होगी। लेखक अपने अनुभव के आधार पर ही किसी घटना को परिभाषित करता है।

अनुभूति तभी जुड़ती है, जब किसी वही या दूसरी घटना के साहस्य का अनुभव होता है।

प्रेमचन्द की ही 'पंच परमेश्वर' कहानी की घटना गांवों में अक्सर ही दोहरायी जाती है। प्रेमचन्द ने निश्चय ही इसका अवलोकन किया होगा। बाकी का निर्णय उन्होंने सकारात्मक ढंग से लिया। पंचों की गरिमा की प्रतिष्ठा की। अर्थात् बिना अनुभव के अनुभूति की आधार-शिला नहीं रखी जा सकती।

इसी सन्दर्भ में कुछ एक चिर स्मरणीय कहानियां पाश्चाता से उद्धृत की जा सकती है। ओ. हेनरी की कहानी 'हॉस्पिटल', स्टाइक मोपासा की 'नेकलेस', टॉल्स्टाय की 'परिवार का सुख' आदि।

अनुभव के सादृश्य के साथ अगर अनुभूति की तीव्रता हो तो वे कहानियां चेतना में विद्यमान रहेगी, उन्हें भूलना सम्भव नहीं होगा। जो केवल सोच के स्तर पर या वैचारिक प्रतिबद्धता के आधार पर रची गयी है, उनको समझाना रखना चिरस्थायी नहीं होता।

जब सम्पूर्ण अनुभव की बात की जाती है तो घटना और चरित्रों के अवलोकन की बात भी सामने आ जाती है। यानी ऐसा चरित्र जो लेखक के साक्षात होता है और भुला पाना सम्भव नहीं होता तब उसे चरित्र को सोच के स्तर पर भी व्याख्यायित किया जा सकता है। जैसे वांग्चू; भीष्म साहनी, 'टोबाटेक सिंह'; सआदत हसन मंटो; तीसरी कसम का 'हीरामन'; फणीश्वरनाथ रेणू गंगु अजाद 'वेणु गोपाल'; लेखक।

लहना सिंह; उसने कहा था, होरी गोदान; बोरिस पास्तरनॉक का डा जीवागो जैसे चरित्र भी ऐसे ही हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। अनुभव तथा अनुभूति दोनों ही एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अनुभव के रास्ते से गुजरकर ही अनुभूति के पड़ाव तक पहुंचा जा सकता है।

रचनाकार तो अपने सामने गुजरते हुए देखता है और अपनी सूझ-बूझ से जो अनुभव करता है वही अनुभूति के रस्वाद के काम आता है। उसके लिए अनुभव अगर चाक्षुष है तो अनुभूति उसकी अन्तर्दृष्टि है।



यह जरूरी नहीं है कि सामने घटती घटनाएं सही अर्थों में यथार्थ हैं, इसके पिछे छिपा हुआ दूसरा अचिन्हित यथार्थ भी हो सकता है। इसे उजागर करने का दायित्व रचनाकार का है।

एक कहानी है 'फन्टूस', वह मोहल्ले में आकर छोटे से कमरे में; भाड़े पर लेकर, इलेक्ट्रिक यन्त्रों की मरम्मत करता है। मगर उसकी आदत है कि दुकान खोलते ही जोर-जोर से रेडियो-केसेट चलाकर गाने सुनता है। मोहल्ले वाले इस जोर की आवाज से तंग हैं। उससे अनुरोध करते हैं कि वह गाने धीमी आवाज में बजाये, लेकिन वो परवाह नहीं करता।

लोग सोचते हैं कि उसे पुलिस में दिया जाय या इस मोहल्ले से उसे निष्कासित किया जाय।

तो स्थानीय क्लब के जरिये इसकी गुहार लगायी जाती है। काफी मसक्कत के बाद यह पता चलता है कि आचरण में वह फन्टूस व्यक्ति कान से कम सुनता है, उसे पता नहीं चलता कि गाने की आवाज तेज है।

गाने हम जो देखते हैं या सुनते हैं वही हकीकत है, यह जरूरी नहीं, इसके पीछे छिपे कई कारण हो सकते हैं। इसके पिछे कारण की जब शिनाख्त होती है, तब रचनाकार के मन में अनुभूति जागती है। समस्त अनुभव से साक्षात् होने के बाद ही अनुभूति का प्रादुर्भाव होता है और रचना की सृष्टि होती है। पीढ़ियों के बंटवारे और आन्दोलनों- विमर्शों के मद्देनजर कहानियों में अधिकतर वैचारिक तथा छद्म कलेवर के साथ रचनाकारों की एक तिहाई जमात सक्रिय रही है। अनुभव और अनुभूति से विरत होकर पेशेवर

की तरह अपने नामों को भुनाने और उजागर करने के लिये हमने कहानी जैसी सशक्त विद्या को बदनाम किया है।

प्रगतिशील खेमें के रचनाकारों ने जो भी और जितना भी लिखा, उनमें दम खम दिखा। यशपाल, मार्कण्डेय, ज्ञानरंजन का नाम लिया जा सकता है।

'नई कहानी' आनमोल तक आते अनुभव व अनुभूति के स्तर के नाम पर अधिकतर कहानियां छद्म ओढ़कर सामने आने लगीं। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर इसी खेमें के कहानीकारों में शामिल हो गये। अमरकान्त, हृदयेश, भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर इनसे अलग हट कर लिख रहे थे।

बाद की पीढ़ी में रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, रमेश बक्षी, श्रीकान्त वर्मा आते-आते सब गड़-मड़ होते दिखा। इनका अनुसरण दूधनाथ सिंह, राजकमल चौधरी ने भी किया।

निश्चय ही अनुभव के आधार पर 'मांस का दरिया' कमलेश्वर, 'कोरस' दूधनाथ सिंह 'पिता-दर-पिता' रमेश बक्षी, कहानियां लिखी नहीं गयी थीं। नहीं तो इनमें फेन्टेसी, सन्त्रास, पोर्नाग्राफी जैसी आंच नहीं आती। इस तरह की छौंक से कहानियों को स्वादिष्ट और पठनीय बनाकर परोसा गया था।

'मंगली का टिकुली' भैरव प्रसाद गुप्त, 'हिरण की आंखें', 'ढिबरी' मधुकर गंगाधर, 'लोग विस्तरो पर' काशीनाथ सिंह; इसी अनुभूति की तीव्रता के कारण पसन्द की गयी है। लेकिन इनका अनुभव कितना पुरखा है या ग्राह्य है यह आलोच्य विषय है।

- इनका द्वन्द्व निरंतर बना रहेगा।

संपर्क : सिद्धेश, 1/17, आदर्श पल्ली, पोस्ट-रिजेन्ट एस्टेट, कोलकाता - 700092,

मो. : 98308 59660



मैं आपको देखते ही पहचान गई थी। मगर बीस साल का यह व्यवधान आड़े आ गया।

आप अपने परिवार के बीच घिरे थे। शायद आपकी बेटी थी, जो हास्पिटल के बेड पर पड़ी थी। ऑपरेशन हुआ था। मैं अपनी ड्यूटी पर थी। महिला वार्ड की रोगियों को विजिट करने गयी थी। वहीं आपकी बेटी का बेड था। वह अब स्वस्थ थी। एक-दो रोज में रिलीज हो जाती। मुझे क्या पता था कि आपको इतने सालों बाद देख पाऊंगी।

याद होगा। मैं अपनी माँ के साथ केदारनाथ जी के दर्शन के लिए भ्रमण में निकली थी। आज उसी ग्रुप में शामिल थे। वहीं पर आपसे परिचय हुआ था। आपके साथ पैदल ही उस पहाड़ी रास्ते से ऊपर गयी थी। बाबा लोग डांडी या घोड़े पर गये थे। मैंने ओर आप ने पैदल ही जाने का निश्चय किया था। मां ने नहीं चाहा था कि मैं पैदल जाऊँ। मगर मैं गयी थी। और आप तो थे ही। मां ने आप पर भरोसा किया था। अन्ततः वह भी मान गयी थी। लौटते वक्त भी आप ही साथ थे।

मैं आपकी उम्र से बहुत छोटी था। मगर आप पर विश्वास था।

आपका नाम मुझे अब याद नहीं। सम्भवतः विनोद मेहरा बताया था। आप पत्रकार थे, शायद लेखक भी। पता चला था कि आपने मुझ पर सफर के बावजूद रचना लिखी, जो पुरस्कृत हुई थी। यह सब मुझे अपनी एक सहेली से पता चला था। मैं तब मेडिकल कॉलेज में पढ़ रही थी। अन्तिम साल था। आप किसी प्रतिष्ठित एक अखबार के प्रतिष्ठान में कार्यरत थे। सफर से लौटने के बाद एकबार आपसे मिलने कार्यालय गयी थी। बस, वही मेरी अन्तिम मुलाकात थी। एक ही शहर में रहकर भी कभी मौका नहीं मिला कि आपसे दोबारा मिलूँ।

उसके बाद कैसे-कैसे समय बीतता गया। मैं डाक्टर बन गयी। और आप कुछ सालों बाद रिटायर हो गये होंगे।

डाक्टर बनने के बाद मां मुझे शादी के लिए जिद कर रही थीं। लेकिन मैंने नहीं की। पिताजी नहीं रहे। अब जब मैंने ऐसे मौके पर आपको देखा तो मैं यह कहने से अपने को रोक नहीं पायी। हालांकि मुझे लोगों के बीच यह नहीं कहना चाहिए था।

‘लगता है, आपको पहले कहीं देखा है।’ बस इतना ही कहा था तो लोग भौंचक रह गये। यह कैसे सम्भव है कि मैंने आपको देखा है? क्योंकि मैं एक बड़े प्रसिद्ध हॉस्पिटल में डाक्टर हूँ। लोग मेरी कद्र करते हैं। मेरा नाम-यश है। लेकिन मैं अपने अन्दर उफनते विस्मय से भरे आनन्द को कैसे रोक सकती



थी?

जिन्दगी के बीस साल कम नहीं होते? 'लगता है, पहले कहीं देखा है?' इतना कहकर ही चुप लगा गयी थी! आगे कुछ कहते नहीं बना। आप भी मुझे भौंचक देख रहे हो, लेकिन कुछ कहा नहीं।

लगा कि आप मुझे पहचान नहीं पाये। आप जिस पेशे से जुड़े थे, उसमें कितने सारे लोग आपसे मिलते रहे होंगे। याद रखना असम्भव नहीं तो मुश्किल तो है ही। या फिर जानबूझकर आपके जान-पहचान के लोगों के सामने बात आगे नहीं बढ़ाई होगी।

मात्र इतना ही तो था कि मैं आपके साथ केदारनाथ मन्दिर के रास्ते ऊँचाई पर चढ़ी थी। और आपने मुझे सहारा दिया था। आप मेरे लिए अनजान थे, पर अपने जैसा साथ दिया था। मां जाने नहीं देना चाहती किसी एक अनजान पुरुष के साथ, लेकिन मेरी जिद के आगे उनकी एक नहीं चली। मैं नहीं चाहती थी कि मैं आपके साथ ऊपर जाऊँ। लेकिन मेरी जिद थी कि मैं पैदल जाऊँ।

मैं इस चढ़ाई से बिलकुल अनभिज्ञ थी, मगर पहाड़ की तटहटी, झर-झर बहते झरनों को नजदीक से देखना चाहती थी। ऐसी सुरम्य जगह आकर प्रकृति के अपार वैभव से वंचित

होना नहीं चाहती थी। ऐसे मौके जीवन में बार-बार थोड़े ही मिलते हैं? तब मां ने ही 'विनोद जी' को सहारा मानकर जाने दिया था।

पहाड़ के कठिन और दुर्दम्य रास्ते पर चलते हुए कितनी यादें, टुकड़ों में बँटी वारदातें अंकित हैं। आप का बीच-बीच में एक-एक कर हिदायतें देना, अपने को अभिभावक मानकर बिगड़ना फिर तत्क्षण सलाह देने की भंगिमा में आकर अपने 'माई स्वीट गर्ल' "वसुंधरा, अब अपनी पगध्वनि से रास्ते ओ पवित्र करो" जैसे संभाषण से मुग्ध करते हुए उतनी ऊँचाई पर पहुंचाया था। मां जी गद्गद थीं की अनजान इस प्रदेश में 'विनोद जी' जैसे व्यक्ति का सहारा मिला। जीवन में ऐसे सहारे का बड़ा मूल्य होता है न?

मैं तब छोटी न होते हुए भी सम्पर्कों की अहमियत को पहचान नहीं पायी।

अब जब मैंने सालों बाद देखा तो मैं अपने को रोक नहीं पायी। समय के अन्तराल को बांधकर मैंने अपने अन्दर उल्लसित आनन्द को उगल ही दिया। मैं अपनी पोजीशन को भूलकर बोल गयी थी।

आप, विनोद मेहरा जी ही भला क्या सोच रहे होंगे कि मैं अपने ही एक मरीज के सामने ऐसी बातें कह दीं?

आखिर मैं एक औरत हूँ न!

संपर्क : सिद्धेश, 1/17, आदर्श पल्ली, पोस्ट-रिजेंट एस्टेट, कोलकाता - 700092,  
मो. : 98308 59660



विज्ञापन में बहुत शक्ति होती है। यह जोकर को नायक और नायक को जोकर बना सकता है। एक महनायक ने अनेक विज्ञापनों पर अपना कब्जा जमा लिया है। उनके पास पैसे की कोई कमी नहीं है, पर हविस है। यह हविस उन्हें जोकर बनने को भी मजबूर करती है।

एक हविस सत्ता की होती है। सत्ता भी अच्छे-अच्छों को जोकर बना देती है। इमरान खान इसके हालिया उदाहरण हैं। सत्ता में बने रहने के लिए उसने अनेक नेताओं को चूहा कह दिया। उसकी पत्नी ने टोटका शुरू किया। कहते हैं इसके लिए हजारों मुर्गियों की कुर्बानी देनी पड़ी।

एक हविस अहं की होती है। पुतिन और जेलेंस्की के अहं ने सारी दुनिया को विश्वयुद्ध के मुहाने पर लाकर खड़ा कर दिया है। हजारों लोग मारे जा चुके हैं। लाखों-करोड़ों के मारे जाने की आशंका है, पर उनके अहं की हविस शांत नहीं होती।

उनलोगों की तुलना में हिंदी के लेखकों की हविस की क्या औकात। इनकी हविस को टुच्ची हविस कहा जा सकता है। ये न सत्ता चाहते हैं, न कुर्सी, परंतु इन्हें खामखाह व्यंग्य का पात्र बनाया जाता है। ये अत्यंत भोले-भाले होते हैं। इनकी खुशियाँ छोटी-छोटी होती हैं और गम भी छोटे-छोटे होते हैं। इन्हें खुशी तब मिलती है, जब संपादक इनकी रचनाएँ छाप देते हैं, प्रकाशक इनकी पुस्तकें प्रकाशित कर देते हैं, संस्थाएँ इन्हें पुरस्कृत/सम्मानित कर देती हैं। बस! इनके लिए ये झोला ढोने, घुटने टेकने, आरती करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। यह न पाप है न अपराध। फिर भी, इन्हें बार-बार टारगेट किया जाता है।

इनके गम भी छोटे-छोटे होते हैं। इन्हें युद्ध में मरनेवालों, भूख से मरनेवालों, नरसंहार में मरनेवालों, बलत्कृत महिलाओं जैसे हैवीवेट दुख हिला नहीं पाते, पर संपादक की ओर से लौटी रचना हिला देती है। इनके जान-पहचान वाले किसी व्यक्ति को मिलनेवाला पुरस्कार/सम्मान इन्हें जला देता है। कवियों के हिलने एवं जलने से उत्तम काव्य की सृष्टि होती है। क्रौंच-वध देखकर आदि कवि वाल्मिकी अंदर से हिल गये थे, तभी वे 'रामायण' लिख सके।

महाकवि तुलसीदास को उनकी पत्नी रत्नावली ने अपने कटु वचनों से



जला दिया था, तब वे 'रामचरितमानस' जैसी अमर कृति रच पाये। आज के कवि-लेखक 'खद्योत सम' हैं, जलकर जहाँ-तहाँ प्रकाश फैलाते हैं, पर प्रकाश तो फैलाते हैं। अनेक बेहतर लिखनेवाले पुरस्कृत/सम्मानित नहीं हुए। वे मुख से कुछ नहीं बोलते, पर भीतर-ही-भीतर कुढ़ते रहते हैं। उनकी कुढ़न उन्हें असंतुष्ट बनाती है। उनकी असंतुष्टता उन्हें साहित्य में क्रियाशील रखती है। संतुष्ट लेखक की हविस और अधिक पुरस्कृत/सम्मानित/ अभिनंदित होने की होती है। वे दो पुस्तकों के मेल से तीसरी पुस्तक छपवाने का खेल जान जाते हैं और तीनों पुस्तकों पर अलग-अलग समीक्षाएँ करवाकर खूब चर्चाएँ बटोरते हैं। उसके बाद आनेवाली उनकी पुस्तकें भले कूड़ा ढोनेवाली गाड़ी प्रतीत हों, पर वे साहित्यिक नेता बनने के उनके मंसूबे को गंतव्य तक अवश्य पहुँचा देती हैं। ये टुच्ची खाहिशें हैं, अतः उनपर दया आनी चाहिए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल कवि ठाकुर की इन पंक्तियों के बड़े प्रशंसक थे—

'विधि के बनाये जीव जेते हैं, जहाँ के तहाँ,

खेलत फिरत, तिन्हें खेलन फिरन देव।'

अर्थात् ईश्वर के बनाये जो भी प्राणी जहाँ

भी, जिन रूपों में खेलते-कूदते फिर रहे हों, उन्हें वैसा ही करने दो, बाधा मत डालो।

आज विश्व की तीन बड़ी शक्तियाँ बड़े-बड़े खेल खेल रही हैं। भले ही किसी ने साम्यवाद का कोट पहना हो और किसी ने पूँजीवाद का। सबका एक कॉमन मिनिमम प्रोग्राम है। दूसरे शब्दों में उनके अंदर सह-अस्तित्व की भावना है। अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए हथियार बनाना और बेचना उनकी मजबूरी है। उनकी इस हविस के कारण अविकसित, विकासशील देश कुचले जा रहे हैं। पर उन्हें कोई बाधा नहीं पहुँचाता।

हमारे देश में भी पक्ष-विपक्ष के नेता सत्ता-सत्ता खेल रहे हैं। इससे सामान्य जनता कुचली जा रही है।

इनकी तुलना में चंद चतुर लेखकों का खेल कोई मायने नहीं रखता। इनके खेल से अधिक-से-अधिक क्या होता है? कुछ प्रतिभाशाली, स्वाभिमानी लेखक कुचले जाते हैं। ऐसे लेखकों से मेरी विनती है—

'प्रभु जी, इनकी चतुराई चित्त न धरो!

हो सके तो अपने अंदर भी

हविस पैदा करो।'

**संपर्क :** डॉ. पंकज साहा, एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर-721305 (प.बं.), मो. 94348 94190



## कला गुमराह है

तेलुगु मूल : सलीम

हिंदी अनुवाद : डॉ. वेन्ना वल्लभराव

“इस बार कौन-सा नाटक खेलेंगे?” कमरे में बैठे हुए दूसरे लोगों की ओर देखकर पूछा सत्यमूर्ति ने। उसकी उम्र चालीस होगी। सुंदर रूप है उसका। घने बड़े हुए बाल। माथे पर तिलक।

उसका उत्तर न देते हुए, साथी ने कहा - “आज का हॉट न्यूज जानते हो? कोलकता में नाटक देखने के लिए टिकट ब्लॉक में खरीद रहे हैं। पता नहीं ऐसे दिन कब आयेंगे हमारे यहाँ!” उसकी उम्र साठ के लगभग होगी। पके हुये बालों को महीने में एक बार चाहे रंग लगाने में वह सुस्ती दिखाता हो, किन्तु नाटक के शौक से, अपने चेहरे को रंग डाल लेना तो छोड़ता नहीं।

“पूने में भी वही हालत है। मराठी नाटक बहुत पसंद हैं वहाँ के लोगों को! हमारे तेलुगु लोग तो ऐसे हैं कि मुफ्त में भी नाटक दिखाओ, आँख उठाकर नहीं देखते। मुझे समझ में नहीं आता कि हम क्यों इन लोगों के लिए इतना हैरान हो रहे हैं?” कहा प्रसाद ने। पच्चीस होगी उसकी उम्र। नाटकों के लिए, इन दोनों से सत्यमूर्ति की दोस्ती शुरू होकर तीन साल हो गये।

तब तक अपने विचारों में खोये हुए रफ़ी ने झट से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की - “जीवन-मरण के बीच तड़पने वाले तेलुगु नाटक को बचाने के लिए ही हमने ‘सत्या कलानिकेतन’ की स्थापना की है न! यह इतना आसान नहीं कि सिनेमा और टी वी के आकर्षण में फँसे दर्शकों को नाटक की तरफ लौटा लाए। पिछले कुछ वर्षों से हम उसी प्रयत्न में लगे हुए हैं। जब हमने गुरजाड़ा के ‘कन्याशुल्क’ प्रदर्शित किया, तो काफी संख्या में दर्शक आये थे। दस रुपया टिकट रखा गया, फिर भी खरीदकर उन्होंने नाटक देखा। मैं समझता हूँ कि यह भी तो एक शुभ परिणाम है।”

सुनकर प्रसाद जोर से हँस पड़ा। बोला - “इसका असली कारण मैं बताऊँ? नाटक में मधुरवाणी का पात्र सुनयना ने धरा था। दर्शक इसलिए होड़ लगाकर नाटक देखने आये थे कि सौ रुपये देकर सिनेमा देखने की अपेक्षा दस रुपये देकर सुनयना का सौंदर्य देखना बेहतर है।”

“यार! तुम हमेशा नेगेटिव ही क्यों सोचते हो? डार्कर साईड देखना तुम कब छोड़ोगे? आखिर तुम ऐसा क्यों सोचते हो? ‘कन्याशुल्क’ नाटक की महत्ता ही ऐसी है। कितने ही साल बीत जाये, यह नाटक दर्शकों को सम्मोहित करता ही रहता है” रफ़ी ने कहा। ‘फिर मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया किसी ने!’ कहा सत्यमूर्ति नेतबा रफ़ी बोला - “मैं उसी बात पर सोच रहा था। इस बार हम एन. आर. नंदि का नाटक दूसरा मोहंजदारो’ खेलेंगे।”



“बहुत अच्छा नाटक है। उसमें मनुष्यों के अंतरंग संघर्षों को जिस तरीके से विश्लेषित किया गया है, वह अनोखा है। पैसे के मोह में मनुष्य जिन नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे रहा है, उसकी पराकाष्ठा का आँखों देखा वर्णन है उसमें... ” सत्यमूर्ति ने रफ़ी की बात का समर्थन दिया। महीने के अंत में ‘दूसरा मोहंजदारो’ नाटक खेलने का निर्णय लिया गया। यथावत साथी के घर में ही रिहर्सल शुरू कर दिये गये। घर विशाल था। साथी को अपने पिताजी से जो संपत्ति मिली, उसमें वह सिर्फ़ इस घर को ही बचा पाया। जब दस एकड़ की जमीन और पच्चीस तोले का सोना आरती कपूर जैसा गायब हो गया, तो उसकी आँख खुल गयी। तब जाकर अपने हाथ समेट लिये। अगर कोई उसे बुलाकर नाटक में पात्र देता, तो खेलकर चुप रहने लगा। नाटक पर खर्च करना तो बिलकुल बंद कर दिया। रफ़ी और सत्यमूर्ति के लिए ‘दूसरा मोहंजदारो’ नाटक भली-भाँति परिचित है। पच्चीस साल पहले उन दोनों ने उस नाटक के कई प्रदर्शन दिये थे। दोनों बराबर की उम्र के हैं। बचपन से एक साथ पढ़ चुके। जब वे आठवीं में पढ़ रहे थे, स्कूल के वार्षिकोत्सव के अवसर पर उनके तेलुगु अध्यापक शंकरराव जी ने छात्रों से ‘चंद्रगुप्त’ नाटक प्रदर्शित करवाने का संकल्प लिया था। उन्हें नाटकों में काफी अनुभव था। कक्षा में ऊँचे, अच्छे रंग-रूप और स्पष्ट उच्चारण वाले लड़के रफ़ी तथा सत्यमूर्ति को शंकरराव जी ने चुन लिया।

रफ़ी को चंद्रगुप्त और सत्यमूर्ति को चाणक्य का पात्र देकर, उनसे रिहार्सल करवाये। वह नाटक खूब खेला गया और उसे भारी प्रशंसा मिली। सबने दोनों का जय-जयकार किया। तबसे रफ़ी और सत्यमूर्ति के बीच मित्रता के साथ-साथ, दोनों को नाटक का शौक भी लग गया। कॉलेज में पहुँचने के बाद रफ़ी कल्चरल

सेक्रेटरी के रूप में चुना गया, तो उनकी बात की कहीं रोक-टोक नहीं रही। जिन छात्रों को अभिनय के प्रति रुचि थी, उन्हें एकत्रित करके नाटक खेलना शुरू कर दिया। एक बार ‘श्रीराम विजय’ नाटक खेला गया। उसमें रफ़ी ने राम का पार्ट किया और सत्यमूर्ति ने लक्ष्मण का। वह नाटक इतना आदर पाया कि कॉलेज में सभी लोग इन दोनों को राम-लक्ष्मण कहकर पुकारने लगे।

इनके बारे में जानने वाले कहा करते थे – ‘सगे भाई भी इतना मिल-जुलकर नहीं रहते। इनकी दोस्ती सबके लिए आदर्श है।’ किन्तु सत्यमूर्ति के घर में तो इसका बहुत विरोध हुआ। उसके पिताजी ने खूब डाँट दिया – ‘अरे अपदार्थ! उस मुसलमान लड़के से दोस्ती करते हो? सुना है कि तुम उनके घर भी जा रहे हो। उस मांसाहारी से घूमना-फिरना बंद न करोगे, तो तुम्हारे पैर तोड़ दूँगा... याद रखो।’

“पिताजी! वह क्या खायेगा, यह उसकी मर्जी है। उसका खाना हमारी दोस्ती में अड़चन नहीं बनेगा। रफ़ी मेरा जिगरी दोस्त है। आप जो भी करेंगे, मैं रफ़ी की दोस्ती छोड़ नहीं सकता” – कहकर सत्यमूर्ति ने अपने पिताजी का भी विरोध किया था।

दोनों ने पढ़ाई से बढ़कर नाटकों पर ही ज्यादा ध्यान रखा, तो केवल पास मार्क्स लेकर डिग्री में उत्तीर्ण हो गये। सत्यमूर्ति ने जरूरी सभी अनुमति प्राप्त करके, एक निजी स्कूल खोल दिया। रफ़ी ने एक चिटफण्ड कंपनी में नौकरी प्राप्त कर ली। दोनों के विवाह हो गये। बच्चे भी हुए। समय गुजरते-गुजरते उन दोनों की दोस्ती और मजबूत हो गयी। अपनी-अपनी जिम्मेदारियों में व्यस्त रहकर भी, उन्होंने कभी-कभी नाटक खेलना तो जारी रखा।

जो भी नाटक वे खेलते थे, उसमें मुख्य पात्र रफ़ी का था। सामाजिक नाटक खेलते थे तो उसमें नायक रफ़ी ही हुआ करता था। अगर



पौराणिक नाटक खेलते तो उसमें चाहे राम हो या कृष्ण, रफ़ी ही था। तब तक तेलुगु नाटक क्षेत्र में रफ़ी की पहचान प्रमुख अभिनेता के रूप में होने लगी है। नाटक परिषदों की प्रतियोगिताओं में न केवल अभिनेता के रूप में, अपितु निर्देशक के रूप में भी उसने कई पुरस्कार जीत लिए।

रफ़ी का आशय था कि एक नाटक संस्था की स्थापना करके, प्राण-वायु के अभाव में तड़पते तेलुगु नाटक को जव-जीव प्रदान करें। पाँच साल पहले इसी विषय पर सत्यमूर्ति से सलाह-मशविरा करके 'सत्या कलानिकेतन' नाम से एक नाटक संस्था की स्थापना की थी।

तब तक नाटक में विशेष अनुभव प्राप्त अभिनेता साथी कृष्ण को अपनी संस्था में मिला लिया। साथी दारु पीता है। किन्तु रंगमंच पर चढ़ जाता, तो अपने अभिनय से दर्शकों को सम्मोहित कर देता है। जवानी में वह 'श्रीकृष्ण दौत्य' नाटक में कृष्ण पात्र करते हुए पद्यालाप करता था, तो थिएटर सीटियों से गूँज जाता था। नाटक के क्षीण दशा में पहुँचने के सिलसिले में वह भी शराब का गुलाम बनता चला आया। साथि के प्रति रफ़ी के मन में बड़ा आदर भाव है।

नाटक के प्रति विशेष रुचि रखनेवाले अपने दफ़्तर के कर्मचारी प्रसाद को भी अपनी संस्था का सदस्य बना लिया। जब वह अभिनेत्रियों को ढूँढ़ रहा था, तो उसे सुनयना का साक्षात्कार हुआ। उसका असली नाम सुरेखा था। अठारह वर्ष की उम्र में ही किसी पर भरोसा करके उसके साथ भाग गयी। एक लड़के के पैदा होने पर उसके प्रेमी ने उसे धोखा दे दिया और लापता हो गया। सुरेखा कपड़े की दुकान में काम करते हुए अपने बच्चे को पालने लगी। एक बार वह चिट् की किस्त भरने के लिए रफ़ी के दफ़्तर में आयी, तो उसे देखा। निर्मल जल के तड़ाग जैसे उसके विशाल नेत्र, धनुष जैसे झुके हुए उसके सुंदर

आँठ देखते ही उसने सोचा - अगर वह अपने नाटकों में स्त्री पात्र करेगी तो कितना अच्छा होगा! दो महीने उसके पीछे पड़कर बहुत अनुनय-विनय करके अंत में उसे राजी करा सका। उसे अभिनय में कुशल बनाने के लिए बहुत कष्ट उठाया। रफ़ी ने ही रंगमंच पर उसका नाम 'सुनयना' रखा था।

रफ़ी का विश्वास है कि पेशे से बढ़कर प्रवृत्ति प्रधान है। सत्यमूर्ति का भी यही विश्वास है। तब से लेकर सुनयना को उनके नाटकों में शामिल किया गया। शुरू-शुरू में टिकट के बिना नाटक खेलते थे। वित्तीय बोझ के बढ़ जाने से पच्चीस रुपये टिकट रख दिया। तब थिएटर खाली पड़ा तो दस रुपये टिकट पर 'कन्याशुल्क' और 'दूसरा मोहंजदारो' जैसे नाटक खेले गये। दर्शकों का अच्छा प्रोत्साहन मिला।

अब दोनों मित्रों की आयु चालीस के ऊपर है। पारिवारिक जिम्मेदारियों से अब उन्हें थोड़ी फुरसत मिल गयी। इसीलिए हर महीना एक नाटक खेलना शुरू किया। आत्रेया जी के 'एन. जी. ओ.' और 'भय'... आर. वी. चलम का 'यह नाटक नहीं'... अनिशेटिट का वह नाटक जिसमें दर्शकों को भी नाटक के पात्रों के रूप में प्रविष्ट किया जाता है, वह नाटक 'हवाई किले'... डी. वी. नरसराजु का 'वसीयतनामा'... मोदुकूरि जॉन्सन का 'नटनालय' तथा एल. बी. श्रीराम का 'पंचतंत्र'... जिन-जिन नाटकों ने कभी लोगों का विशेष आदर प्राप्त कर लिया था, ऐसे सभी सामाजिक नाटक खेलना शुरू कर दिया।

'दूसरा मोहंजदारो' का प्रदर्शन सफलतापूर्वक पूरा हुआ। परंधामय्या का पात्र रफ़ी ने किया। जो पात्र मध्यवर्गीय, निस्सहाय मानसिकता का प्रतीक है, उसे रफ़ी ने अद्भुत ढंग से सँभाला। धनार्जन को ही ध्येय बनाकर, यश प्राप्ति के लिए दानादि करते हुए, पद और सत्ता के लिए नैतिक मूल्यों को खत्ता लगा देनेवाले कोटेश्वरय्या का पात्र



सत्यमूर्ति ने किया। हमेशा की तरह निर्देशन की जिम्मेदारी रफ़ी ने ही संभाली।

इस नाटक को दर्शकों से मिली विशेष प्रशंसा उनके लिए एक हफ़्ते भर 'ऑक्सिजन' बन गया। उस उत्साह को लेकर सत्यमूर्ति ने दोस्तों से पूछा - "हमारा अगला कार्यक्रम क्या है?"

"इस बार कोई पौराणिक नाटक खेलेंगे। पद्य नाटक पीछे पड़ रहे हैं न! उन्हें भी तो प्राण प्रदान करने चाहिए। पद्य-गान करने के बाद दर्शकों में से अगर कोई 'वन्समोर' चिल्लाकर सीटी बजाये, तो उसके मजे के सामने ट्विस्की का 'किक्' भी बदतर है न!" - सायि ने सुझाव दिया। जवानी में नाटकों के प्रति उसका शौक जो था, अब सिनेमा की ओर मुड़ गया है। जमीन-जायदाद बेचकर सिनेमा वालों के पीछे घूमने से चाहे वह निर्धन बन गया हो, फिर भी उसका वह मोह अभी नहीं छूटा। इसी उम्मीद के साथ वह प्रतीक्षा करता रहता है कि कोई निर्देशक उसे बुलाकर सिनेमा में रोल दे देगा।

"जब सामाजिक नाटक ही देखे नहीं जा रहे हैं, तो पौराणिक कौन देखेगा आजकल? पद्य-गान शुरू करते ही दर्शक उठकर भाग जायेंगे। ऐसे सिनेमा भी बड़े एन. टी. रामाराव के गुजर जाने के साथ ही चले गये हैं न! आजकल कोई पौराणिक सिनेमा बनाने का साहस भी नहीं कर रहा है" प्रसाद ने निराश कर दिया।

"सच तो है ही। जब हमने नाटक खेलना शुरू किया था, कुछ पौराणिक नाटक खेले। लोगों का अच्छा आदर भी मिला। किन्तु अब दर्शकों की रुचि में परिवर्तन आ गया है। कोई नहीं देखेगा" - सत्यमूर्ति ने अपना विचार बताया।

"आपके विचार से मैं सहमत नहीं हूँ। पौराणिक तो किसी भी समय नाटक के लिए रत्न खचित मणि मुकुट ही हैं। कब की रामायण थी... आज भी उसका अपने-अपने दृष्टिकोण से विश्लेषित

करके बताने वाले कितने ही लेखक मौजूद हैं" - कहा रफ़ी ने। "ठीक है, कहो कौन-सा नाटक करेंगे?" सायि ने पूछा। "श्रीराम वनवास खेलेंगे। मैं और सत्यमूर्ति दोनों ने नौकरी में दाखिल होने से पहले कई बार खेला था, याद है न सत्यमूर्ति?" - उसकी ओर देखा रफ़ी ने।

सत्यमूर्ति का टस से मस न होना देखकर रफ़ी आश्चर्य चकित हो गया। उसका अंदाज था कि उस नाटक की बात उठते ही सत्यमूर्ति उछल पड़ेगा और 'हाँ' कह देगा। उसमें लक्ष्मण पात्र का विशेष प्राधान्य है। पिछली बार जब वह नाटक खेला गया, तब रफ़ी ने राम का पात्र किया था और सत्यमूर्ति ने लक्ष्मण का। "बोलते क्यों नहीं? उसे छोड़कर किसी दूसरा नाटक खेलने का विचार है?" पूछा रफ़ी ने।

सत्यमूर्ति ने सकुचाते हुए कहा - "श्रीराम वनवास तो अच्छा रहेगा। दर्शकों को पसंद आनेवाली सभी रंग-रौनक हैं उसमें। मैं लक्ष्मण का पात्र करूँगा। किन्तु मैं यही सोच रहा हूँ कि राम का पात्र कौन करेगा?"

उसके मन की बात रफ़ी को मालूम नहीं पड़ी। बोला - "उन दिनों राम का पात्र मैंने ही किया न!

अब भी मैं ही करूँगा।"

सत्यमूर्ति कुछ पल तक चुपचाप बना रहा। उसके मौन ने रफ़ी का संयम तोड़ दिया। "इसका मतलब.. राम के वेश के लिए मैं काबिल नहीं?" संदेहास्पद दृष्टि से पूछा। "मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम योग्य नहीं हो। किन्तु पता नहीं, लोग कैसे रिसीव करेंगे!" "साफ-साफ बताओ न! क्या तुम्हें याद नहीं - जब हम जवानी में थे, तब इस नाटक को कितना अच्छा रिसीव किया लोगों ने? परिषद् की प्रतियोगिता में मुझे पुरस्कार भी मिला न! यकीन करो कि अब भी लोग उसी तरह आदर करेंगे।" "वे दिन और थे। रफ़ी! अब



परिस्थितियाँ बहुत बदल गयी हैं। अगर तुम राम का पात्र करोगे, तो हमारे लोग नहीं मानेंगे। झगड़े भी होंगे।” कहा सत्यमूर्ति ने।

“क्यों होंगे? याद है न, तुमने खुद कितनी ही बार कहा था कि मैं राम के वेष के लिए बिलकुल ठीक रहता हूँ। मेरा चेहरा तो कुछ बदला नहीं है। थोड़ा तगड़ा बना हूँ, बस। डायलॉग स्पष्ट बता सकता हूँ। पद्य भी रागयुक्त गा सकता हूँ। मेरी बात मानो सत्या! मैं उस पात्र के साथ जरूर न्याय करूँगा” कहा रफ़ी ने। “तुम्हारी प्रतिभा से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। किन्तु ..?” “बात क्या है? साफ-साफ बताओ।”

“एक मुसलमान... राम का पात्र करेगा, तो हमारे हिंदू नहीं मानेंगे।”

उसकी बातें सुनते ही रफ़ी ऐसा छटपटाया मानो सत्यमूर्ति ने बंदूक लेकर उसके दिल में गोली मार दी हो। पिछले तीन सालों से सत्यमूर्ति में क्रमशः आनेवाला परिवर्तन उसके ध्यान से बाहर नहीं गया। पहले अकसर उसके घर आनेवाले सत्यमूर्ति ने आजकल आना ही छोड़ दिया। कभी उसकी बातों में आत्मीयता झलक पड़ती थी। अब तो उसमें कोई अपश्रुति महसूस हो रही है। सिर्फ़ औपचारिक ढांग से बात करने लगा है। नाटक समाज के कुछ लोग रफ़ी को चेतावनी भी देते आये कि सत्यमूर्ति अपने वर्ग के लोगों से स्थापित संघ में सक्रिय रूप में भाग ले रहा है। यह सब रफ़ी को गलत महसूस नहीं हुआ। कुछ मित्रों ने कहा - “अगर सब लोगों को अपना न माने और कुछ ही लोगों को अपना मान ले, तो दूसरे लोग पराये नहीं बनते? देखो, उसमें परधर्म असहिष्णुता बहुत बढ़ गयी है।” उन सभी शिकायतों को निराधार मानकर उसने टाल दिया। किन्तु अब उसे सत्यमूर्ति का असली रूप अनेक दाँतों और सींगों को लेकर विकृत रूप में खुल गया है।

फिर भी दिल को थामकर कहा - “वेश

करने के लिए अच्छा आहार्य, कुशल अभिनय और वाक्पटुता जरूरी हैं.. आस। अभिनेता के धर्म से क्या सरोकार? एक बात बताओ, इसमें आपत्ति हिंदुओं को है या तुम्हें?” तब तक उसकी आँखें अश्रुपूर्ण बन गयीं।

“बेमतलब की बातें न करो रफ़ी! मुझे आपत्ति क्यों होगी? क्या तुम देखते नहीं कि समाज में कितना परिवर्तन आ गया है! यह ऐसा समय है जब हर धर्म अभेद्य मजबूत किला बन रहा है। ताकत जुटाकर अपनों को संगति करके, अपना विशेष अस्तित्व प्रकट करने का प्रयास आजकल हर धर्म कर रहा है।

अगर मुझसे पूछा जाये कि राम का पात्र धरने के लिए हिंदुओं में अभिनेता ही नहीं मिले क्या? तो मैं क्या जवाब दूँ?” कहा सत्यमूर्ति ने। उसके स्वर में ध्वनित नफरत रफ़ी के ध्यान को पार कर नहीं गयी।

“आखिर ऐसा विचार उन्हें क्यों आएगा?”

“जरूर आएगा। हिंदुओं के द्वारा पूजे जानेवाले पवित्र पुरुष श्रीराम का पात्र एक मांसाहारी मुसलमान करेगा, तो उस बात को वे पचा नहीं पायेंगे” प्रसाद ने कहा।

कोई नहीं बोल रहा तो फिर उसी ने कहा - “सत्यमूर्ति जी ने जो कहा अक्षरशः सत्य है। यह सत्यकाल नहीं है। ये दिन ऐसे हैं कि घर में गो मांस के रहने की शंका से लोगों को मौत के घाट उतार दिया जा रहा है। हमारा देश ऐसा है कि कुछ राज्यों में गो मांस भक्षण को सजा देने योग्य अपराध मान रहे हैं।

अगर राम का पात्र एक मुसलमान से करवाया जाये तो यह संभव है, उस पर मार-काट भी हो तो आश्चर्य नहीं होगा।”

“हिंदुओं में कितने मांसाहारी नहीं हैं? उस दृष्टि से देखा जाए तो राम क्षत्रिय थे, इसलिए वे भी मांसाहारी ही थे। सुना है कि वाल्मीकि रामायण



में ऐसे श्लोक भी हैं, जो यह बताते हैं कि राम मांस खाते थे।" कहा साथि ने।

"राम मांसाहारी थे या शाकाहारी - इस पर चर्चा अब अप्रासंगिक है। फिर प्रसंग आ पड़ा है तो कह रहा हूँ। वाल्मीकि रामायण में 'आमिष' नामक शब्द है। कुछ लोगों का तर्क है कि उसका अर्थ 'मांस' है। 'आमिष' के कई अर्थ हैं, उनमें से एक अर्थ 'राज्य' भी है। रंगनाथ स्वामी के मंदिर में भगवान को जब आम के फल नैवेद्य के रूप में समर्पित करते हैं, तो पण्डित कहा करता है - 'आम्र मांस खंड समर्पयामि'। यहाँ 'मांस खंड' का अर्थ फल का टुकड़ा है। यह मांसाहारी है - इसलिए मैं रफ़ी को राम का पात्र करने से नहीं रोक रहा हूँ। चूँकि वह मुसलमान है, इसलिए वह हिंदू देवताओं के पात्र करने के लिए योग्य नहीं है" सत्यमूर्ति ने कहा।

रफ़ी को अपने कानों पर विश्वास न हुआ। अपना मित्र सत्यमूर्ति ही यह सब कह रह रहा था? उसकी ओर ससंदेह देखते हुए कहा - "सत्या! तुम्हीं कह रहे हो ये बातें?" उसका रुदन रोके नहीं रुकने लगा। सत्यमूर्ति खड़े होकर - "यह मेरी अपनी बात नहीं है। मैं कह रहा हूँ कि हर हिंदू यही कहेगा। हिंदू देवताओं के पात्रों के लिए हिंदू अभिनेताओं की कमी पड़ गयी क्या? राम का पात्र हिंदू ही करेगा। अगर कोई नहीं मिलेगा, तो मैं स्वयं ही करूँगा" बोला और तेजी से बाहर चला गया।

रफ़ी शिला प्रतिमा की तरह फ्रौड गया। क्या मेरा सुना हुआ सब सच ही था? ऐसी बातें करने वाला अपना बचपन का दोस्त सत्यमूर्ति ही था?

इतने सालों की दोस्ती किस भाड में चली गयी? इतने दिनों के बाद उसे याद आ गया था कि मैं मुसलमान हूँ? रफ़ी का मन व्यथित हो गया। सूर्यास्त होने से पूरे कमरे में धीरे-धीरे अंधेरा छा जाने लगा।

"दोस्ती अलग है। ईश्वर अलग है। इन दोनों को क्यों मिलाते हैं? तुम दोनों दोस्त जरूर हो, इतने मात्र से उसका ईश्वर तुम्हारा नहीं बन जायेगा न! सत्यमूर्ति जी ने एक ओर सत्य बताया है। हमें पसंद आये या न आये, वास्तविकता तो बदलती नहीं। राम का पात्र मैं भी कर सकता हूँ। उसके लिए एक विधर्मी पर निर्भर होने की दुर्दशा हम हिंदुओं को नहीं आ पड़ी" कहकर प्रसाद भी वहाँ से चला गया।

"हमारे जमाने में अभिनेता चाहे राम का पात्र करें या कृष्ण का, उसके अभिनय कौशल को देखकर ही लोग जयजयकार करते थे। उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर ध्यान नहीं देते थे। इतने सालों से विश्वास करता आया कि कलाकारों के लिए जाति धर्म प्रांत आदि का कोई भेद-भाव नहीं होता। सच ही है। जमाना बदल गया है। कलाओं को भी फूँदी लग रही है। प्रांतीयता के कीड़े लग रहे हैं। धर्म दीमक बनकर बाधा डाल रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?" साथि कुड़बुड़ाया।

"साथि जी! मैं हमेशा सोचा करता था कि ललित कलाएँ सोना जैसी हैं, उन्हें कभी जंग नहीं लगती। मेरा अंदाज गलत 'रहा' आँसू पोंछते हुए कहा रफ़ी ने। "नहीं, तुम्हारा विचार सही था। जंग कलाओं को नहीं लगा, कुछ कलाकारों को लग गया है" साथि ने कहा उठकर लाइट जलाते हुए।

संपर्क : डॉ. वेन्ना वल्लभराव, 41-1/6-57, गौतमीनगर, कृष्णालंका, विजयवाडा-520 013, आ.प्र.,  
मो. : 9490337978)



**1. कतरा भर धूप**

जरूरी होता है बुरे सपनों का,  
छूट जाना!  
ठीक वैसे ही जैसे...  
लम्बे प्रवास के बाद अचानक से  
बच्चों का घर वापस आना!  
सारी रात उदासी डूबी सड़कों के अलकतरे का  
धूप में जगमगाना!  
रेतीले टीलों से प्यासे गुजरकर...  
शाम शीतल जलाशय का मिल जाना!  
थके मांदे दूर्गम पहाड़ों के सफर के पश्चात...  
सीधी सपाट सड़क का मिल जाना!  
सारी रात बुरे सपनों से जूझने के उपरांत...  
सुबह किसी प्रिय का घर आना!  
लम्बी अस्वस्थता के बाद अचानक से  
एकदम स्वस्थ हो जाना!  
सबसे बुरा होता है लेकिन  
अच्छे सपनों का बीच राह टूट जाना!

**2. दोयम दर्जे की औरतें...**  
लगाती है वो माँग भर सिंदूर  
पहनती हैं हाथ भर चूड़ियाँ  
चिपका लेती है बड़ी सी  
एक बिंदी कपाल पर...  
पाँवों में भी बजती होती हैं बेड़ियाँ!  
उंगलियों में बिछुओं की जकड़न...  
तपते दिन में जलती हैं सारा दिन  
घर की सबसे छोटी खिड़की वाले घर  
रसोईघर में, समक्ष चुल्हे के!  
पकाती हैं ढेरो सामान  
पसीने से नहाते हुए!  
जितने रुपये दिए जाते उसे...  
बखूबी खरीद लाती जरूरत भर सामान!  
सबको खिलाकर जब खुद बैठती हैं...  
थाली का आकार कभी पूरा

तो कभी आधा,  
या फिर कभी चौथाई!  
'ना' बोलना उसे आता ही नहीं...  
पति की जरूरतों के समक्ष  
हमेशा नतमस्तक...  
विलुप्तप्राय सी होती आजकल...  
दोयम दर्जे की औरतें!  
हाँ यही होती है दोयम दर्जे की औरतें!

**3. अडिग वो दोनों**

सूरज की रौशनी में चमकता  
शाम कृत्रिम रौशनियों में नहाया  
हावड़ा ब्रिज...  
रात-रात भर मुझसे बातें करता है।  
कभी चाँदनी रातों में  
तो कभी अमावस्या की रातों में भी!  
दिन भर हँसने वाला वो रात भर..  
जार-जार आसूँओं से लद जाता है।  
जैसे वृद्धावस्था में  
अकेली हो जाने पर वो...  
दिन भर की थकन के बाबजूद,  
अनिद्रावश...  
उगते और डूबते तारों के मध्य...  
अपने छूट गए नातों को ढूँढ़ती है  
इसी बीच ढलक आती है कुछ बूंदें  
उसके चमकदार गालों पर।  
नदी का जल सोख लेता है  
उन दोनों के मोतियों को!  
अडिग वो दोनों..

**4. नवजात की तरह**

तीव्र वेदना से जैसे  
जन्म होता है हमारा...  
उतनी ही पीड़ा से गुजरकर  
पैदा होती हैं कविताएँ!  
बिल्कुल किसी नवजात की तरह...



फिर कवि करता है उनका  
लालन पालन और पोषण...  
धीरे-धीरे वो बड़ी होती है  
और फिर परिपक्व  
समय की सीमाओं से परे  
कवि बन जाता सर्जक!

### 5. रंगहीन दीवारें

पुरानी जर्जर बस्तियों में  
घरों की दीवारें  
बाहर से जब...  
रंगहीन होती नजर आती हैं,  
या फिर शायद उन्हें  
कभी रंगा ही न गया हो...  
तभी दूर किसी घर की खिड़की पर  
खड़े-खड़े उसे नजर आती है...  
एक नीली चमचमाती इमारत!  
पता नहीं कैसे उग आयी ये...  
इन फूहड़ दीवारों की बस्तियों में!  
या फिर अस्तित्व में रही होगी ये भी...  
आज बस उसपर शायद  
आसमानी रंग मेहरबान हो गया!  
उतर आया फिर वो भी बस्तियों में!

### 6. मनीप्लांट की तरह

लडकियाँ होती है  
मनी प्लांट की तरह  
वगैर जड़ के भी उग आती हैं  
रोपी जाती हैं जहाँ!  
वगैर धूप के भी  
हरी भरी हो लहलहाती हैं  
और अपनी शाखाओं

उप-शाखाओं को बढ़ाती  
लोट-पोट करती  
घर पर रखे गमलों या मर्तबान में  
तलाशती कोई सशक्त स्तंभ जिसपर लिपटकर  
पहुँच सके नेह की चरम उंचाई तक!

### 7. संगेमरमर की तरह

बड़े ही प्यार से  
उसे गढ़ा गया!  
चेहरा, आंखें, नाक, कान  
फिर उसके हाथ और पाँव,  
फिर बारीकी से उसे  
संगेमरमर की तरह ...  
तरासा गया!  
निश्चित दिन, तय समय पर  
सजा धजा कर  
वेदी पर आसीन किया गया!  
वो कुछ नहीं बोली,  
फिर उसे बहुत कुछ  
खिलाया गया!  
वो बस चुप थी  
बिल्कुल आशीर्वाद वाली मुद्रा में ...  
अगली ही शाम  
फिर ढोल- नगाड़े के संग  
नदी में विसर्जित किया गया!  
लेकिन तभी वो  
जोरों से रोने लगी  
और किसी ने ये न सुना!  
क्योंकि हमें मूक चीजें ही पंसद हैं न!  
यदि वो बोलती,  
कभी पूजी न जाती!



## 1. अलाव

आँगन खत्म हो चुके हैं  
 कमरों का छोटा हो गया है दायरा  
 छप्परपोश कच्चे मकान के सर पर  
 अब सवार है मजबूत छत  
 अब दीवारें भी कच्ची नहीं रही  
 अब जमीन को  
 गोबर से लीपने का भी  
 नहीं रह गया है रिवाज़  
 चूने की सफेदी से आगे निकलकर  
 दीवारें सतरंगी हो चुकी हैं  
 बगल के कमरे में खाँसते  
 भूत के सिकंदर को है मनाही  
 वो काँप तो सकता है, लेकिन  
 सुलगा नहीं सकता आग  
 पीढ़ी के खत्म हो जाने से अधिक  
 दीवार के काले होने का खतरा है

## 2. मिसरिया डोम

इस कंपकपाती ठंड में  
 बहुत खुश है कि  
 कम से कम आज बच गयी  
 उसकी जान  
 कोने में खड़ा उसका छोटका बेटा  
 फतुही पहने सुबक रहा है  
 साइकिल का पंचर टायर  
 जिसे दौड़ाकर  
 वो रोक लेता है राहगीर  
 उससे निकल रही हैं लपटें  
 खिलौने संजीवनी में तब्दील हो रहे हैं  
 बच्चे के दिल में

जल रही है आग

## 3. गर्म हैं तस्वीरें

पाँच सितारा होटल के  
 वातानुकूलित कमरे से  
 निकले कुछ लोगों के  
 पतलून की जेब में है हाथ  
 ठंड को धता बताता दरबान  
 ठोक रहा है सलामी  
 होटल के पिछवाड़े  
 उठ रही है आग की लपटें  
 किसी अंग्रेजी गाने के धुन पर  
 पाश्चात्य संस्कृति के प्रतिनिधि  
 हाथ में हाथ डाल  
 जंगलियों सा मटक रहें हैं  
 मुँह बिचका-बिचका  
 दना-दन ली जा रही है फोटो  
 जो निरंतर हो रही है अपलोड  
 आग से अधिक  
 गर्म हैं तस्वीरें  
 जलती लकड़ियों का फैशन  
 उफान पर है

## 4. फलक पर बैठा खुदा

मौसम हो बदमिज़ाज  
 और दाँव जिंदगी की हो  
 फलक पर बैठा खुदा कब  
 मुफ़लिसों के काम आता है  
 गरीब पत्ता-पत्ता चुनता है  
 फिर सूरज का एक टुकड़ा  
 ज़मीं पर ही सुलगाता है

**संपर्क :** अमित कुमार अम्बष्ट 'आमिली', पैसिफिक पैराडाइज़, फ्लैट नम्बर-3 A, थर्ड फ्लोर 219-बानीपारा,  
 कोलकाता-700154, Email-writeramitambashtha@gmail.com, मो. 0983119941



## तीन गज़लें

डॉ. अरुण तिवारी 'गोपाल'

## गज़ल-1

बहारों में तरसते हम, कहीं क्या और से आये  
 गरीबों के लिए मौसम, कहीं क्या और से आये  
 मिला कर आँख, साकी भर रही है जाम शाहों के,  
 फकीरों के लिए हमदम, कहीं क्या और से आये  
 खिजां पच्चानबे, बस पाँच फीसद में हँसें गुलशन,  
 यही बादल वहाँ हैं नम, कहीं क्या और से आये  
 चलो माना नहीं है दिल, मगर है पेट हममें भी,  
 सगी अम्मा के 'जाये हम, कहीं क्या और से आये  
 हवेली में कुँवर समझें कुटी में बस बकरियाँ हैं,  
 बगावत पूछती है हम कहीं क्या और से आये

## गज़ल-2

जिन्दगी का हार आँसू से सजाया उम्र भर?  
 रेत से ख्वाबों का घर हमने बनाया उम्र भर?  
 वक्त की भारी तपिश थी, और प्यासी जिन्दगी,  
 पी गयी जज्बात ने जो भी बहाया उम्र भर?  
 एक भी न सुनी सदा, रुदादे गम की यार ने,

जंग खायी साँकलों को, खटखटाया उम्र भर?  
 वो रजा का एक लम्हा इश्क, माँगा था कभी,  
 वो हुआ रुसवा यहाँ, दिल मुँह को आया उम्र भर  
 जो लगा तुमको अरुण, इमराज-है दुश्मन बड़ा,  
 पै वही अपना रहा, रिश्ता निभाया उम्र भर?

## गज़ल-3

साल, दिन, हर पल नया, हर पल, चलो, जी भर जियें  
 कल गया, आयेगा कल ये पल, चलो, जी भर जियें  
 भीड़ हैं, बाजार हैं हम, हम ठगें या हम ठगें,  
 है सुकूँ घर में, चलो कि, निकल चलो जी भर जियें  
 जिन्दगी है दर्द होगा, बात है कैसे सहें,  
 प्यार में हँस कर सहें, यूँ ढ़ल चलो जी भर जियें?  
 कौन सी दुनिया है मुनिया फिर मिली नंगी मरी,  
 नर्क हम, बस्ती नहीं जंगल, चलो जी भर जियें?  
 है दिसम्बर सी उमर, तुम जनवरी में आ मिलो,  
 हों न हों, हम ये गुलाबी पल, चलो जी भर जियें  
 गुफ्तगू की है सहालग, है जवानी पर गजल,  
 शायरा है धूप नम चंचल, चलो जी भर जियें।

संपर्क : डॉ. अरुण तिवारी 'गोपाल', 117/69N, तुलसीनगर, काकादेव, कानपुर नगर,  
 उत्तर प्रदेश-208025, मो. : 7784951687, Email : aruntiwari@gmail.com



**‘किताबें’**

जिंदगी की कड़कती धूप में  
 किताबें छाँव हैं।  
 कभी बारिश में छतरी  
 तो कभी बाढ़ में नाव हैं।  
 अज्ञानता के तम में  
 किताबें ज्ञान का प्रकाश हैं।  
 भागती-दौड़ती इस जिंदगी में  
 किताबें सुकून का अवकाश हैं।  
 माटी के चकरोड पर चलता हुआ  
 मेरे बचपन का गाँव है।  
 शहर की मशीनी भीड़ में  
 लतपत पसीने से सना मज़दूरी करता हाथ है।  
 जिंदगी की दौड़ में  
 किताबें पाँव हैं।

**‘घर के बरगद’**

समय-समय से अब यूँ भीड़ता है  
 लहू-लहू से जा लड़ता है  
 घर का वृद्ध नहीं रहा कमाउ  
 उपर से बूढ़ी हड्डी का दाव  
 बढ़ते खर्चे और उपफ ये बीमार बुढ़ापा  
 किसको घर में अब अच्छे लगते हैं  
 सम्मान दूर अब स्नेह बिना  
 घर के बरगद सूख रहे हैं।  
 पोते-पोती नहीं जानते अब  
 दादा-दादी की कहानी  
 नहीं बनते नाना घोड़े  
 न ही याद आती अब नानी  
 घर के छत अब  
 घर से दूर रहे हैं  
 वृद्ध आश्रम शहर-शहर में फल-फूल रहे हैं।  
 दो पीढ़ी, फिर पीढ़ी दर!

दर-दर करते कितने दर...

हर घर में न्यूक्लियर अब फूट रहे हैं  
 हर दर के संबंध टूट रहे हैं  
 हम अपनी जड़ों से छूट रहे हैं  
 घर के बरगद अब सूख रहे हैं।

**‘सम्मान’**

मैं यह नहीं कर सकती  
 की जबरन किसी अन्य के हृदय भूमि पर  
 अपने सम्मान के पुष्प उगाऊ।  
 खोद दूँ मिट्टी तल तक  
 हाँ, बिलकुल गहरे जड़ तक  
 उखाड़ दूँ उसे वहाँ से  
 और फिर अपने मनचाहे जगह पर उसे लगाऊ  
 नहीं मैं यह नहीं कर सकती।  
 सम्मान के पुष्प स्वतः? उगते हैं  
 वह हर कहीं, हर परिस्थिति में बने रहते हैं  
 बागों में, जंगल में,  
 पानी में, किचड़ में,  
 मरुभूमि में, और तो और पहाड़ों में भी  
 साल के चार ऋतुओं  
 और बारह के बारह महीनों में  
 सम्मान के पुष्प खिलते हैं, महकते हैं और  
 मुस्कुराते रहते हैं।  
 हम तोड़ नहीं सकते इन फूलों को  
 ना ही गुलदस्ते में ला अपने घर में सज़ा  
 सकते हैं  
 यह तो बिलकुल भी मत सोचिए  
 अपने आँगन में इसे उगा सकते हैं  
 कर सकते हैं तो बस इतना  
 सींच सकते हैं इन्हें अपने व्यवहारों से  
 डाल सकते हैं स्नेह, दया, करुणा, परोपकारिता  
 के खाद इसमें।

संपर्क : सुषमा कुमारी, शोधार्थी, विद्यासागर यूनिवर्सिटी



## तीन कविताएँ

### 1. साथ-साथ

ये फूल बार-बार खिलते हैं  
मेरी उदासियों का इनपर मानो  
कोई असर नहीं  
मैं उपेक्षा भी करती हूँ  
नाराज़ जब खुद से होती हूँ  
ये डोलते हैं पवन संग  
मुझे चिढ़ाते हुए  
मुझे हँसाने का प्रयास  
निरन्तर करते हैं  
मैं भी कितनी नाराज़ रहूँ  
आखिर मान जाती हूँ  
जीने की नई उम्मीद लिए  
ये फूल दोस्त बन जाते हैं  
फिर हम साथ-साथ  
उपेक्षा करते हैं  
तेज़ हवाओं का,  
तेज़ बारिश का,  
किसी-किसी की  
तेज़ बातों का...

### 2. कुछ नहीं

तुम्हारे जीवन में  
कुछ नहीं  
बनकर रहना  
अच्छा लगता है  
जैसे सवाल और जवाब  
के बीच का कुछ नहीं  
जैसे कोरे कागज़ और  
उसमे लिखे जानेवाले

शब्दों के पहले का  
कुछ नहीं  
जगी आंखों का  
नींद की गोद में  
जाने के पहले तक का  
कुछ नहीं  
साँसों के लेने और  
छोड़ने के व्यवधान सा  
कुछ नहीं  
एक विचार का  
मन में रहने से लेकर  
कहे जाने तक का  
कुछ नहीं  
ये कुछ नहीं ही तो  
एक ताना-बाना कसती है  
जिसका कोई अस्तित्व नहीं  
फिर भी सबकुछ हो  
जोड़ देती हो व्यर्थता को  
सार्थकता में....  
तुम यूँही मेरे इर्दगिर्द  
शब्दों की तरह रहना  
मैं बीच का मौन बनकर रहूंगी  
देखती रहूंगी तुम्हें  
शब्दों से कविता बनते हुए  
कहूंगी कुछ नहीं.....

### 3. बची हुई सुंदरता

अपने अधिकार में  
लेना चाहती हूँ  
पृथ्वी पर बची हुई

### सविता दास सवि

कुछ अनोखी चीज़ें  
जानती हूँ उसे ढूँढना  
उतना मुश्किल नहीं  
बस एक दिन उठना होगा  
सूरज से पहले  
पत्तों पर पड़ी ओस को  
नज़रों के लेंस में कैद  
करने के लिए,  
धूप में उनके  
गुम होने से पहले

थोड़ी सुंदरता  
नदियों में विसर्जित  
मूर्तियों से भी रख  
लूंगी, सुना है उनमें  
कुछ आस्था बची रहती है  
पानी में घुलने से पहले

विदा करते बेटियों के  
पिता के कंधे से भी थोड़ी  
ज़िम्मेदारी ले लूंगी  
उनके आंखों से बहते आंसू  
सूखने से पहले

यात्रा पर निकले बेटे को  
आशीर्वाद देती माँ के  
आंखों से वह अनंत उम्मीद  
लेना चाहती हूँ, स्टेशन से  
उनके घर लौटने से पहले।

**संपर्क :** सविता दास सवि, लाचिit चौक, सेंट्रल जेल के निकट, डाक : तेज़पुर, जिला : शोणितपुर,  
असम 784001, मो. : 8638544116/ 9435631938



**अहिल्या**

अहिल्या जीवन तुम्हारा व्यर्थ ही रहा।  
 स्वयं के न आयी किसी काम।  
 एक पुरुष ने किया पतित  
 और चोरों की तरह कर दी  
 पवित्रता तुम्हारी भंग।  
 पवित्रता का ठेका वैसे तुम्ही ने लिया था न।  
 दूसरे ने प्रतिदान में दे दिया दंड  
 किंतु क्या थी तुम दंड की अधिकारिणी;  
 शिला बन कर सहा तुमने न जाने कितना  
 शीत-घाय।  
 और फिर आये पतित-पावन श्रीराम  
 तुम जैसी पतिता के लिए भला  
 भगवान को क्यों आना पड़ा  
 शिलाखंड से नारी रूप क्यों देना पड़ा।  
 क्या आवश्यकता थी श्रीराम  
 शिलाखंड ही रहने देते तुम्हें  
 क्योंकि तुम्हें तो यही स्वीकार था।  
 कि दूसरों की रची पवित्रता पर  
 घिसी जाओ तुम बार-बार, बार-बार।

**छुट्टियाँ**

शाम से ही बच्चों ने लगा रखी थी  
 अपने मनपसंद खिलौनों की रट।

किसी को चाहिए बॉबी डॉल  
 और किसी को अपनी जगमग टॉय कार।  
 इन्हीं फरमाइशों में अचानक मेरा ख्याल  
 न जाने कहाँ से आ टपका।  
 पूछ लिया गया मुझसे कि क्या तुम्हे भी कुछ  
 चाहिए; कहो तो ले आता हूँ।  
 कुछ मजाकिया अंदाज में जब पूछा गया  
 मुझसे...  
 तो हँस कर मेने भी कहा हाँ ले आओ मेरे  
 लिए थैला भर के छुट्टियाँ।  
 हा जी दोनो बाँहों में भी जो न समाये  
 इतनी सारी छुट्टियाँ।  
 ताकि जी भर के सो लूँ मैं  
 आराम ढेर सारा फरमा लूँ मैं।  
 कहकशे लगा लूँ अपनी सखियों से मन भर  
 के, और खरीद लाऊँ पूरा बाजार।  
 धूल जमी मेरी कहानियों की किताब  
 न जाने कब से मेरी राह देख रही है।  
 एक नजर उन पर भी डाल लूँ मैं।  
 पढना चाहती हूँ फिर से वो सारी कहानियाँ  
 जहाँ होती है बस एक रानी;  
 रानी नहीं महारानी  
 और चलती है उसकी पूरी मनमानी।  
 कब होंगी इतनी सारी छुट्टियाँ।

संपर्क : [singh.snm@gmail.com](mailto:singh.snm@gmail.com)



## 1. बूँदभर प्यार

हाथ, खिड़की से बाहर निकालकर  
 वो, बारिश की बूँदों को,  
 यूँ थाम रही थी,  
 मानो, उनसे कह रही हो,  
 कहाँ भागे जा रहे हो,  
 ठहरो, जरा सुस्ता लो, इन हथेलियों पर,  
 उन बूँदों से भी मिल लो,  
 जो नीचे आने की जल्दी में,  
 तुम्हें छोड़ आए थे और,  
 उनसे भी मिल लो,  
 जिन्हें तुम छोड़ आए थे।  
 कुछ देर तुम मेरे हाथों की  
 आड़ी-तिरछी लकीरों की सैर कर आओ,  
 तब-तक तुम्हारे और साथी भी आ जाए।  
 जानते हो, जिन लकीरों से  
 बहते हुए तुम्हें उलझन हो रही थी,  
 जिन कटे-फटे मोड़दार रास्तों पर तुम ठहरे थे,  
 उन्हीं लकीरों ने मेरी जिंदगी गढ़ी है,  
 उन्हीं मोड़ों पर किसी अपने को छोड़ आई हूँ,  
 और, कोई मुझे छोड़ आया है,  
 लेकिन तुम अब और उदास मत हो  
 मैं तुम्हें मुक्त करती हूँ कि  
 तुम समा सको अनंत में  
 और प्रवाह को लय दो, पर  
 निज अस्तित्व को सीप का मोती करो,  
 हाँ उसी सीप का,  
 जो तुम्हें खुद में सहेजकर  
 बहुमूल्य कर दे,  
 तुम्हें, खुद से कहीं ज्यादा कीमती कर दे,  
 और जब मैं तुमसे मिलूँ  
 तो भागकर तुम्हें सहेज लूँ उस रेत से,

तुम्हें थाम लूँ  
 तुम्हें चूम लूँ  
 तुम्हें हमेशा के लिए  
 ताबीज की तरह पहन लूँ।  
 और तुम भी उस,  
 ठहराव को याद कर लेना,  
 उस पल को जो,  
 मेरी हथेलियों से हो के,  
 मेरे दिल तक तुम्हें ले आए।  
 हमेशा, हमेशा के लिए...

## 2. तस्वीर तुम्हारी

सुनो! तुम तो जानती हो न,  
 कि मैं कितना बुरा चित्रकार हूँ।  
 कितनी खराब तस्वीर बनाता हूँ,  
 मैंने कितने कैनवास खराब किए हैं,  
 लेकिन मैं कैसे बताऊँ  
 कि जो तस्वीर मैं कैनवास पर लाता हूँ,  
 वो तस्वीर वैसी नहीं होती,  
 जैसा कि मेरे अंतर्तम पर बिछी होती है।

मेरे हाथ नहीं देते मेरा साथ  
 मेरी कूंची, समूची तस्वीर नहीं खींचती,  
 नहीं भर पाते माकूल रंग हम  
 और उभर आती है बेढंगी तस्वीर।

जानती हो!  
 मैं जब भी तुमसे मिलता हूँ  
 हर दफे एक तस्वीर बनाता हूँ  
 अंतर्तम के कैनवास पर,  
 एक दम चटख, उभरी, खिलखिलाती,



कभी मायूस भी तुम सी!

मगर, हर दफे वो तस्वीर  
एक नया रूप, एक नया चेहरा,  
मेरे सामने रख देती है, और  
मैं पुराने और नए के अंतर बीच,  
झूलता हुआ एक सांझा रूप  
गढ़ तो लेता हूँ! मगर...

वहाँ तुमको नहीं पाकर  
बेचैन, बदहवास तुम्हें खोजता हूँ  
और खो जाता हूँ, तेरी रूहानी खूशबू में,  
और जान पाता हूँ कि रूह की तस्वीर नहीं होती।

### 3. अंजुरी भर नेह

मैं अचानक बड़ा,  
बहुत बड़ा हो जाता हूँ  
जब उसे चाहिए होता है,  
पिता का प्यार  
माँ की ममता  
भाई की आश्वस्ति  
दीदी का अपनापन,  
जब उसे देना होता है  
ढेर सारा प्यार,  
उड़ेलना होता है दुलार  
लानी होती है चेहरे पे मुस्कान,  
बढ़ानी होती है 'डिपल' की गहराई,  
उसे जब खानी होती है डांट  
जीना होता है बचपना,  
तब उसी हिसाब से मैं बड़ा,  
और बड़ा होता जाता हूँ  
और मुझमे समा जाती है वो नन्हीं गुड़िया,

और जब नन्हीं गुड़िया  
होने लगती है बड़ी  
तब मेरा आकार,  
उसी अनुपात में घटने लगता है,  
हो जाता हूँ छोटा  
जब, उसे कंधे पर  
सर रखकर दो पल सुस्ताना होता है,  
माँ सा दुलराना होता है  
धौंस जमाना होता है  
मुझको चिढ़ाना होता है  
और ढेर सारा प्यार लुटाना होता है।  
इस तरह हम छोटे, बहुत छोटे,  
और बड़े, बहुत बड़े होते रहते हैं  
और एकदूजे को अंजुरी भर-भर के  
नेह उड़ेलते रहते हैं।

### 4. इष्ट की प्रतिमा सी

सैकड़ों की भीड़ है  
भीड़ के सैकड़ों चेहरे  
हर एक पर सौ-सौ मुखौटे।  
खोजने निकला जो खुद को  
साँझ खाली हाथ लौटे।  
ओखली सा हाथ! जीवन  
तन्हाई और एकाकीपन।  
हाथ पर है हाथ  
झुके है माथ  
तब तुम्हारा साथ जैसे  
अपरिमित दुख-सागर में  
खुशी का द्वीप हो कोई।  
तुम्हारा कंधा जैसे,  
इष्ट की प्रतिमा हो कोई।  
जहाँ, अश्रु जल ढारकर,  
सर्वस्व मिल गया हो।

संपर्क : सौरभ सतर्ष, बगहा, बिहार, मो. : 9415480072



समकालीन समय में कथाकार रणेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपनी लेखन कला के माध्यम से वे हिंदी जगत में मूर्धन्य कथाकार की श्रेणी में आते हैं। समाज के सबसे वंचित या फिर कहें कि समाज की मुख्यधारा से विमुख रहे आदिवासी समुदाय उनके लेखन के केंद्र में हैं।

यह आदिवासी समाज आज से नहीं, बल्कि सदियों से अपनी मूलभूत सुविधाओं से वंचित रहे हैं जिनकी ओर ध्यान देने की हिमाकत किसी ने नहीं की बल्कि स्वार्थवश इनका भरपूर शोषण किया गया। अब ऐसी स्थिति आ गई है कि यह समाज अपने हाशिए पर आ खड़ा है जिसकी सुध लेने वाला समाज में कोई भी मौजूद नहीं है।

हमारा समाज आदिवासियों को असभ्य तथा आधुनिकता का विरोधी बताता है, किंतु ऐसा नहीं है वास्तव में वही प्रकृति के सफल उपासक हैं, जिन्होंने हमें प्रकृति से जोड़कर रखा है अर्थात् यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह समुदाय एक प्रकार से मनुष्य और प्रकृति के बीच सेतु का कार्य कर रहा है, इन्हीं बातों का स्पष्टीकरण रणेन्द्र के कथा साहित्य में सर्वत्र व्याप्त है। हमारे समाज में आदिवासियों को लेकर विभिन्न प्रकार के मिथक फैले हुए हैं जिनका खंडन करना उनके साहित्य का मूल लक्ष्य है। इसके साथ ही आदिवासी समुदाय में व्याप्त विसंगतियों का सटीक एवं यथार्थ चित्रण उनके कथा साहित्य में दृष्टिगत है। आदिवासी समुदाय की मुख्य समस्याएं विस्थापन, पलायन, अशिक्षा, बेरोजगारी, अंधविश्वास एवं पुनर्वासन आदि हैं जिनका स्पष्ट रूप से अवलोकन हम उनके साहित्य को पढ़कर कर सकते हैं। इन्हीं समस्याओं को केंद्र में रखकर 'छप्पन छुरी और बहत्तर पेंच' लिखा गया प्रतीक होता है।

'बाबा, कौए और काली रात' संग्रह की पहली कहानी है के मुख्य पात्र बिफैया, शनिचरा काका और सुरेश काका हैं। जिनके जीवन से जुड़ी समस्त क्रियाकलापों व त्रासदियों को बिफैया के बेटी के माध्यम से लेखक ने दर्शाया है। कहानीकार ने आदिवासियों के मस्तिष्क में फैलती विकृत मानसिकता को उजागर करने की कोशिश की है। कहानी में दीपाकुजाम गांव का दृश्य दिखाया गया है। बिफैया, सुरेश काका और शनिचर, तीनों की मित्रता गांव के लिए एक जलती लौ की तरह मिसाल का काम किया करती थी। किंतु समय दर समय परिस्थितियां बदलती गईं और अवसरवादिता की भावना विकसित होने लगी जिसका खामियाजा केवल उन तीनों को ही नहीं बल्कि पूरे गांव को भुगतना पड़ा। वे तीनों मित्र गांव के विकास के लिए आए दिन ब्लॉक का दौरा किया करते थे। वे नहीं चाहते थे कि किसी भी प्रकार की घूसखोरी, रंगदारी



और जोर जबरदस्ती जैसी घटनाएं हो इसलिए अक्सर ब्लॉक का दौरा किया करते थे। इस कार्य के लिए उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा था फिर भी वे अपने इन कार्यों के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध थे। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया मानसिकता बदलती गई और भ्रष्ट मानसिकता घर करती गई। तीनों मित्रों की रुचियां भी बदलने लगी। बिफैया और शनिचर काका तो फिर भी एक साथ रहें लेकिन सुरेश काका ने उन दोनों को बिलकुल दरकिनार करना शुरू कर दिया अर्थात् उन्हीं का शोषण करना शुरू कर दिया। सुरेश काका ब्लॉक प्रमुख बनते हैं और तब से ब्लॉक के भत्तों का आक्रोश बिफैया के खिलाफ बढ़ने लगता है जब भी बिफैया किसी योजना के क्रियान्वयन के लिए ब्लॉक जाता था तो वहां के लोग उसकी घोर बेइज्जती किया करते थे। वे कहते थे कि - 'दस साल से यही पापी ब्लॉक का विकास रोककर रखा था। कितना रंगदारी-कितना दबाव! किस-किस पर हाथ नहीं उठाया होगा! आज कैसे हाथ जोड़कर गिड़गिड़ा रहा है, हुजूर। रंग बदला हुआ सियार है, झांसे में नहीं आना है, सर। कोई योजना- फोजना भी दीपाकुजाम में नहीं देना है।' इस प्रकार देखते हैं कि ब्लॉक के लोग ऊपर किस-किस प्रकार का लांछन लगाने का काम करते हैं जबकि वे हमेशा गांव की भलाई के लिए ही ब्लॉक जाता था। धीरे-धीरे उसकी आवस्था दयनीय होती चली गई और उधर शनिचरा काका की तबीयत भी बिगड़ रही थी जिसमें जल्द से जल्द इलाज की जरूरत थी। किंतु पैसों के अभाव के कारण नहीं हो सकी। अंत में शनिचरा काका की मौत हो जाती है जिससे बिफैया एकदम अकेले पड़ जाते हैं। अंततः बिफैया षड्यंत्रवश अपने उपर पेट्रोल छिड़क लेता है और आग लगा लेता है। इस प्रकार

उसके जीवन का अंत हो जाता है। यहां अंत एक व्यक्तिका नहीं बल्कि पूरे समुदाय का होता है जो अपने मूल रूप से परिचित नहीं है, जिसके पीछे उन्हीं के लोग होते हैं। जिन्हें पहचान पाना उनके लिए अत्यंत मुश्किल होता है। यदि सुरेश काका विधायक भैया के जाल में नहीं फंसते तो बिफैया भी जिंदा होते और साथ ही साथ यह गांव भी सुरक्षित हाल में होता लेकिन विकृत मानसिकता से ग्रसित लोग अपने ही समुदाय के लिए कलंक होते हैं जिन्हें समाज से दरकिनार कर देना ही उचित है।

'छप्पन छुरी और बहत्तर पेंच' और 'दरवाजे में भिंची ऊंगली' कहानियों में लेखक ने नारी शोषण जैसे ज्वलंत मुद्दे को विषय का आधार बनाया है। इन कहानियों में किस प्रकार नारी का शोषण किया जाता है उन्हें किस प्रकार जबरन भोग का शिकार बनाया जाता है उसी का ज्वलंत चित्र मौजूद है। ये दोनों कहानियां आदिवासी नारियों के शोषण को उजागर करती हैं। जिन्हें यूं ही धूमिल नहीं किया जा सकता है। साथ ही उन्होंने समाज को उनके प्रति संवेदनशील बनने की प्रेरणा भी दी है।

'छप्पन छुरी बहत्तर पेंच' कहानी की शुरुआत मुन्नू बाबू के माध्यम से होती है जिसके माध्यम से लेखक अपनी कहानी को विस्तार देता हुआ प्रतीत होता है। मुन्नू के पिताजी स्कूल में हेड मास्टर हैं और वे शहर में ना रहकर शामगंज में रहते हैं। गांव में होने वाली समस्त घटनाओं का वर्णन मुन्नू ही करता है। गांव में उच्चवर्ग के लोगों का अधिपत्य है उनके खिलाफ जाने की हिम्मत किसी में नहीं है। जो भी उनके विरुद्ध जाएगा वह अपराध की श्रेणी में खड़ा हो जाएगा। गांव में त्रिभुवन बॉस का राज चलता है उसके शोषण, रंगदारी और बदतमीजी का चित्रण सर्वत्र



व्याप्त है।

गांव में एक दंपति बौधा और झलकारी रहने के लिए आते हैं। झलकारी का दृश्य पूरे गांव वालों और साथ ही मुन्नु बाबू के लिए भी आकर्षण का केंद्र बनता है। वह गांव की अन्य स्त्रियों से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है। सबकी निगाहें झलकारी पर ही आकर टिक जाती है यहाँ तक की खुद मुन्नु बाबू और उसके सहयोगी मित्र भी झलकारी की भिन्न-भिन्न उपमानों से नवाजते हैं और उसके संदर्भ में भिन्न-भिन्न कल्पनाएं गढ़ते हैं।

झलकारी के रूप सौन्दर्य की खबर त्रिभुवन बस को जैसे ही पता चलता है वह उसे नोचने के लिए घात लगाए बैठा रहता है। इसी उद्देश्य से वह बोधा पर भी हमला कर कर देता है और झलकारी के साथ जबरन दुष्कर्म करता है इसका गहरा असर झलकारी पर पड़ता है। त्रिभुवन बॉस के दुष्कर्म को लेखक के इन पंक्तियों में देखा जा सकता है - 'मोहल्ले को बिना कुछ कहे -सुने सब एहसास हो गया था। बौधा- झलकारी को आए छह महीने भी नहीं हुए थे, कुत्ते को खीर की महक मिल गई थी। रात में कुत्ता खीर जुठाने ही आया था।' त्रिभुवन गांव की कई महिलाओं के साथ ऐसे दुष्कर्म कर चुका था किंतु किसी में भी हिम्मत नहीं थी उस त्रिभुवन बस के खिलाफ खड़े होने की। वह आए दिन ऐसी घटनाओं को अंजाम दिया करता था। लेकिन झलकारी के साथ हुए दुष्कर्म ने उसे अंदर तक झकझोर दिया था। अपने साथ हुए शोषण के लिए वह बौधा और स्वयं के रिश्ते को दोषी ठहराती है और विलाप करती हुई कहती है कि - 'ई परपुता बौधा हमके कहीं के नय छोड़लक हे चाची! हम के सतभतरा वाली बनाय देलक हे चाची।' झलकारी के इस विलाप को देख हम

समझ सकते हैं कि वह कितने गहरे सदमे में जा चुकी थी।

'दरवाजे में भींची उंगली' कहानी में नारी जीवन की त्रासदी को ज्वलंत रूप में दिखाने का प्रयास किया गया है। हम जानते हैं कि ईश्वर और दानव दोनों ही मनुष्य के अंदर निहित होते हैं लेकिन उनमें से कौन सा रूप कब जागृत हो जाए यह कह पाना संभव नहीं है। मनुष्य के दानव रूपी भेड़िए के दृश्य को कहानीकार ने कहानी में प्रस्तुत किया है। वह दानवरूपी भेड़िए किस प्रकार नारी दोहन के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार हो सकता है जिसकी कोई सीमा नहीं हो सकती। अंततः यही कहना उचित होगा पुरुषों के निगाह में स्त्री एक मात्र वस्तु है जिसे कभी भी किसी भी वक्त इस्तेमाल करके फेंक दिया जा सकता है। ऐसी ही समस्याओं को लेखक ने इस कहानी में रेखांकित करने की कोशिश की है। इस कहानी में नारी का चौतरफा शोषण दिखाया गया है। बाहरी लोगों के साथ-साथ घर में रहने वाले लोग भी नारी का शोषण करते हैं जिसके ज्वलंत उदाहरण इस कहानी में देखने को मिलते हैं।

कहानी का नायक और नायिका, नेहा एक दूसरे से प्रेम करते हैं किंतु उन दोनों का विवाह नहीं हो पाता है जिसका मुख्य कारण यह है कि राजनीतिक कार्यक्रम में शामिल होने के कारण नायक को 22 महीने की जेल हो जाती है इसके पश्चात दोनों की जिंदगी बदल जाती है। वे दोनों अलग-अलग रास्तों पर निकल पड़ते हैं। नायक के जेल से रिहा होने के पश्चात उसका विवाह कहीं और करवा दिया जाता है तथा उधर नेहा की शादी भी एक बैंक क्लर्क से हो जाती है। नेहा की शादी होते ही उसके जीवन में असहनीय दुखों का वातावरण छा जाता है। उसके पति की



असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण उसका देवर रवीन्द्र उसके साथ जबरदस्ती करने की कोशिश करने लगता है, यहां तक कि उसकी छोटी बेटी से भी गलत हरकतें करने से बाज नहीं आता।

नेहा किसी तरह पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाने के लिए बैंक में नौकरी करने लगती है उसके इसी नौकरी का फायदा उठा कर उसका छोटा भाई सुमित लोन निकाल लेता है और गलत कार्यों में लिप्त हो जाता है जिसका खामियाजा अंत में नेहा को ही भुगतना पड़ता है। जिससे उसका जीवन दूभर हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसके देवर के साथ-साथ उसके भाई भी कहीं ना कहीं उसका शोषण करते हुए नजर आते हैं जो काम हो जाने के बाद अपनी बहन को बचाने की बजाय फर्जी कार्यों में फंसा देता है। रणेन्द्र लिखते हैं कि - 'यह कैसी मर्दानगी है कि जिस बहन ने अपने नाम पर गाड़ी निकाल कर दी, गाड़ी पकड़ी गई तो हाथ झाड़कर खड़े हो गए कि गाड़ी मेरी नहीं है, बहन की है। वही जाने।' इन पंक्तियों से पुरुषों की मानसिकता स्पष्ट होती है कि पुरुष चाहे बाहर का हो या घर का वह नारियों का शोषण करने से कभी नहीं चूकता।

नेहा के भाई सुमित के कार्यों द्वारा नेहा पर कई संगीन आरोप मढ़ दिए जाते हैं और उस पर कानूनी कार्रवाई का आदेश चलने लगता है जिस वजह से वह इतना परेशान हो जाती है कि जहर तक खा लेती है।

नेहा अपनी तथा बेटी की सुरक्षा के लिए भिन्न-भिन्न प्रांतों में ट्रांसफर लेती रहती है किंतु दरोगा और उसका देवर रविंद्र उसके पीछे लगे ही रहते हैं - 'पीछा करते वह दारोगा आया। बहाना गवाही के सम्मन के तामिल का, किंतु वह अपना काम करके चला गया।...इतना तंग, इतनी

बदनामी की गई बिलासपुर में कि नेहा ने आजीज आकर एक रात नींद की गोली खाकर जान देने की कोशिश की।'

कहानी में लेखक ने नेहा के शोषण के साथ ही उसकी बेटी के शोषण को भी दिखलाने की कोशिश की है जो वर्तमान समय में एक ज्वलंत मुद्दा बनकर हमारे समाज में खड़ी है जिसका एक दृश्य इस प्रकार है - 'लेकिन एक दिन शाम को हम बैंक से लौटकर आए तो देखे दोनों कमीने भेड़िए उसके क्वार्टर में घुसे थे। साथ में बूढ़ी भी थी। उसके सामने बच्ची के साथ दोनों खींचतान कर रहे थे।' यह कितना भयावह दृश्य है कि मनुष्य के अंदर का भेड़िया जब जाग उठता है तो उसकी मनुष्यता पूरी तरह समाप्त हो जाती है और वे बच्चियों तक के जिस्मों को नोच खाने के लिए तत्पर हो उठते हैं। इस संदर्भ में जितना कहा जाए, उतना कम पड़ जाएगा।

कथाकार रणेन्द्र समाज में फैले राजनीतिक दुर्व्यवस्थाओं का बखूबी चित्रण अपनी कहानियों में करते हैं। समाज के परिचालन के लिए राजनीति एक मुख्य आधार है किंतु जब इसका दुरुपयोग होने लगता है तो यह समाज के लिए घातक हथियार साबित होती है जिसके कारण समाज में कई वर्ग राजनीतिक षड्यंत्र में फंसकर अपनी तथा अपने पूरे वर्ग का बेड़ा गर्क कर बैठते हैं।

'सरेंडर जतरा' कहानी में भी राजनीति का दुरुपयोग देखने को मिलता है। इस कहानी में नौकरी और सत्ता के नाम पर ऊच्च पदों पर आसीन व्यक्ति भोले-भाले आदिवासी युवकों को अपना शिकार बनाकर स्वार्थ सिद्धि की पूर्ति करते हैं। कहानी के मुख्य पात्र भवानी और मंगल हैं। भवानी पढ़ लिखकर टीचर हो जाती है और मंगल खेती-बाड़ी का काम करने लगता है।



हालांकि बचपन से ही पूरे गांवभर में उनकी शादी की चर्चा होती थी लेकिन भवानी के टीचर बनते ही भवानी के पिता इस शादी से मुकर जाते हैं। वे चाहते हैं कि उनका होने वाला दमाद भी नौकरी वाला होना चाहिए। भवानी के पिता स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि - '...हंह... मंगल लकड़ा... लकड़ा की बकरा।... - बाघ कहीं तियन-तरकारी बेचता है बे, कि राजपाट करता है। लकड़ा साले झूरा कहीं के, हमको बुड़बक समझ रखा है। हमारा दमाद बनेगा...आईना में मुंह देखा है...काहे बे... गांव के भुईहर घर की औलाद होकर आलू-प्याज बेचने में शरम नय लगा... ग्लानि नय... हुआ बेशरम सब।' इन बातों को सुन मंगल परेशान हो जाता है और उसे लगता है कि उसकी शादी हो पाना संभव नहीं है। इसलिए वह नौकरी के लिए भरपूर प्रयास करता है लेकिन नौकरी लेना इतना सरल काम नहीं है। मंगल की हिम्मत टूट जाती है हालांकि वह नौकरी प्राप्त करने के लिए कोचिंग भी ज्वाइन करता है किंतु अंत में छोड़ देता है।

कुछ ही दिनों के पश्चात कुछ मिलिट्री के अफसर उसके घर पर एक स्कीम की योजना लेकर आते हैं जिसमें कुछ पैसों की शर्त रखी जाती है और एक नाटक करने को कहा जाता है फिर कहते हैं कि जैसे ही है नाटक संपन्न हो जाएगा वैसे ही मंगल को पुलिस की नौकरी मिल जाएगी। नाटक में यह होता है कि इसमें झूठमूठ का नक्सली बनकर सरेंडर करने की योजना होती है। पहली बार तो भवानी के दादा इसे नकार देते हैं उन्हें कुछ गड़बड़ी नजर आती है किंतु मंगल के लिए वह दुबारा इस प्रस्ताव को मान लेते हैं और नकली नक्सली 'सरेंडर जतरा' नामक नाटक की शुरुआत होती है। इसमें अफसर से लेकर राजनीति तक के लोग अपने

स्वार्थ सिद्धि और प्रमोशन के लिए शामिल होते हैं। इस नाटक में केवल मंगल नहीं बल्कि बेरोजगारी से परेशान अन्य आदिवासियों को भी शामिल किया जाता है। नीचे से लेकर उपर तक के अधिकारी व नेतागण सब स्कीम की स्क्रिप्ट तैयार करते हैं जिससे कि उनका मुनाफा हो सके लेकिन वास्तव में ऐसा कोई स्कीम होता ही नहीं है कि जिसमें सरेंडर के नाम पर नौकरी दी जाए। यह केवल एकमात्र आदिवासी युवको को फंसाने के लिए नेताओं द्वारा साजिश रची जाती है। जैसे ही यह नाटक समाप्त होता है इस नाटक में सम्मिलित सभी अधिकारी व नेतागण अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। यहां तक कि इस षडयंत्र में आदिवासी समुदाय के केरकेट्टा साहब भी शामिल होते हैं। इस प्रकार नकली नक्सली बनाकर नौकरी का लालच दिखाकर आदिवासी युवकों की जिंदगियों से खिलवाड़ किया जाता है। इस बात की खबर सभी को होती है लेकिन वे स्वार्थवश आदिवासियों को अपना शिकार बनाते हैं। जब इस बात की सच्चाई के कुछ सबूत हाथ लगते हैं तो मंगल और ददा को भरपूर मारा-पीटा जाता है। मंगल को पीट-पीटकर अधमरा कर दिया जाता है वह जीते जी लाश बनकर रह जाता है। इस नकली सरेंडर की स्कीम का पर्दाफाश करते हुए लेखक तीखे शब्दों में लिखते हैं कि- 'सबसे ज्यादा झटका देने वाली बात यह थी कि राज्य की सीआईडी ने दिल्ली को इस झूठे-सरेंडर स्कीम की पूरी खबर दे दी थी। शायद स्कीम का हिस्सा वहां तक नहीं पहुंचा था। होम मिनिस्टर नहीं आने वाले थे। सरेंडर का कार्यक्रम नहीं होना था। साहब लोगों ने रुपए खर्च कर दिए थे। पैसे लौटने नहीं थे। लालच-पैसे की भूख का भयानक बुलडोजर हिला और सैकड़ों परिवार पूरी तरह तबाह हो गए।'



इस प्रकार नकली योजना बनाकर आदिवासी युवकों के साथ खिलवाड़ किया जाता है। शासन तथा प्रशासन को सभी बातों की जानकारी होते हुए भी उनकी तरफ से कोई कारवाई नहीं की जाती है। राजनीति के इस भ्रष्ट रूप का चित्रण लेखक ने बड़ी ही ईमानदारी से किया है जिसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए वह कम पड़ेगी।

इसके अतिरिक्त 'छप्पन छुरी बहत्तर पेंच', 'हमन को होशियारी क्या' और 'भूत बेचवा' आदि कहानियों में अंधविश्वास, विद्रोही स्वभाव, आदर्श-

चरित्र तथा संघर्ष को भी देखा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस कहानी संग्रह में आदिवासियों से जुड़ी तमाम समस्याओं का यथार्थ और ज्वलंत चित्रण विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में किया गया है जिसे आदिवासी समाज आज तक झेलता रहा है। उनके साथ होने वाले अत्याचारों व शोषण का जिम्मेदार कहीं न कहीं हमारा तथाकथित सभ्य समाज ही रहा है जिसने उन्हें कभी समाज की मुख्यधारा से जुड़ने की नहीं दिया बल्कि साजिश के तहत हाशिए पर लाकर खड़ा कर दिया है।

पुस्तक का नाम	:	छप्पन छुरी और बहत्तर पेंच' (कहानी संग्रह)
लेखक	:	रणेन्द्र
समीक्षक	:	धर्मेन्द्र कुमार पासी
प्रकाशक	:	आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, पिन - 134113
मूल्य	:	रुपये 150/-
		संपर्क : 617008703



कवि शुभ्रा उपाध्याय की एक छोटी कविता है 'व्यक्तित्व'। यह छोटी कविता स्त्री के व्यक्तित्व के निर्माण की निर्मम कथा कहती है। कविता है :

अपनों के पसंद की पेंसिल, नापसंद की इरेजर  
इच्छाओं के रंग, आकांक्षाओं की तूलिका से  
निर्मित होता है-, हमारा व्यक्तित्व, शनैः शनैः शनैः :

यह कविता 'समानांतर चलती एक लड़की' जो शुभ्रा उपाध्याय का पहला काव्य-संग्रह है, में है। इस संग्रह की अंतिम कविता का शीर्षक भी 'समानांतर चलती एक लड़की' है। इस कविता को पढ़ते हुए यह अहसास होता है कि कवयित्री शुभ्रा शब्दों के माध्यम से चित्र रचने में निपुण हैं। यह कविता एक चित्रात्मक कविता है। चित्र ऐसी कुशलता से रचा गया है कि पाठक एक-एक पंक्ति पढ़ता जाता है और पाठक की आंखों के सामने चित्र उभरने लगता है। ठीक वैसे ही जैसे डॉटमैट्रिक्स प्रिंटर या लेजर प्रिंटर से कागज पर धीरे-धीरे पूरा चित्र उभर आता है। जैसे-जैसे चित्र उभरता जाता है चित्र वाली वह लड़की पहचान ली जाती है, यूं लगता है जैसे हमारे बगल में सोई लड़की है। शुभ्रा के काव्य मन की यह विशेषता है कि वे अपने आसपास के लोग और उसकी स्थिति से कविता रच डालती हैं।

शुभ्रा के काव्य-शहर की यह विवाहित लड़की इतनी जानी-पहचानी-सी है कि रोजमर्रा की जिंदगी में अगल-बगल चलते हुए भी दिखने लगती है। कमाल यह नहीं है कि वह दिखने लगती है, कमाल यह है कि इस कविता की हर पंक्ति पाठकों के हाथ की लेजर लाइट बन जाती है और पाठक उस लेजर लाइट को किसी भी लड़की के भीतर उतार कर उसके भीतर चल रही समानांतर लड़की को ढूँढ़ने लगता है। इस तरह यह कविता पाठक के साथ हमेशा बनी रहती है और पाठक का मन भीगता रहता है।

शुभ्रा की एक और कविता है 'घर की औरत'। इस कविता को समानांतर चलती एक लड़की की पूर्व-कविता की तरह पढ़ा जाना चाहिए। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए : 'घर की औरत, जब/लांघती है देहरी घर की /... तब/लौटना, घर उसका / देता है बदल,/उसके सारे मायने ...नहीं अब ,वह है घर की / घर की होते हुए भी/ ...दिन भर की खरोंच से, लहलुहान / उसकी आत्मा, ढूँढ़ती है वह, एकांत कोना /बूंद-बूंद रिसता घाव/बह सके अबाध जहां / कुछ देर'। लहलुहान हो जाने के बाद भी इसी औरत के भीतर जो लड़की बची हुई है, उस लड़की की कविता है 'समानांतर चलती एक लड़की'। इस समानांतर चलती लड़की के वे छह संवाद हैं जो उस घर की औरत से वह कहती है और उसी से एक ऐसी कविता बनती है जिसकी उम्र लंबी होगी। वे



मारक संवाद हैं, देखें:

‘थोड़ी देर और भी सो सकती थी तुम’

+++

‘इसके लिए पीएचडी की जरूरत नहीं थी’

+++

‘तुम भी तो बुन सकती हो हजारों सतरंगी सपने’

+++

‘तू भी तो पी सकती थी, एक कप कॉफी सुकून से’

+++

‘तू भी तो भीग सकती थी आषाढ़ में’ और अंतिम संवाद है ‘थोड़ा अपने आप से भी तो प्यार कर सकती हो तुम’ ऐसे छूने वाले संवाद से पाठक हिल जाता है। हिल जाता है तो कविता पाठक को मुट्ठी में कस कर पकड़ लेती है। कविता की उम्र लंबी होने लगती है।

यह जो लड़की समानांतर चल रही है उसे संबोधित करते हुए कवि शुभ्रा ने एक कविता और लिखी है। कवि के लिए यह कविता विशेष महत्व की जान पड़ती है। तभी कवि ने इस कविता को सूची से भी पहले जगह दी है। कविता का शीर्षक है : वन्दन। देखिए कि कवि शुभ्रा उस लड़की से क्या कह रही हैं? पूछ रही हैं :

ऐ लड़की / कौन हो तुम? मेरी हमशक्ल? परछाई? या अंतरात्मा? कौन हो तुम?

ऐसे और इतना पूछने के बाद उस लड़की से वे कहती हैं :

ऐ लड़की! / जो भी हो तुम - /अजर हो! अमर हो! / हो चिर युवा! सदा संग साथ रहना / जीवन-कविता में ऐसे ही बहना!! यह वह लड़की है जो दर्द पर कर्सर टिकाती चलती है।

कवि शुभ्रा के लिए दर्द ही कविता है। कवि की एक छोटी-सी कविता है एक मोती। इस कविता में किस तरह खरोंच और टीस से कविता छिटक पड़ती है, इसका जायजा लिया जा सकता है :

दर्द एक कविता है! तब समझा -/ तुम्हारी

एक खरोंच ने / तमाम अपेक्षाओं को कुरेदा / मन में एक टीस उठी / निकली एक आह! अनायास, / बंद पलकों के बाहर / छिटक गया कभी का- /एक मोती !!

मन में जो टीस उठती है और बंद पलकों के बाहर जो मोती छिटकता है और तब जो कविता बनती है, उस कविता से कवि शुभ्रा संवाद करती हैं। संवाद का दृश्य देखिए :

‘जश्न देखो चारों तरफ / चौमुखी विकास का है / आगे की पंक्तियों में कवि विकास का चित्र खींचता है

‘नये तकनीकी, नये आणविक हास का है / अपने लबादे से तुम / मुक्त क्यों न होती हो? / सर्द-सर्द रातों में भी / फुटपाथ पर ही सोती हो? / तुम तो खड़ी हो सदा उनके ही पास में / गिन गिन बिताते दिन जो परिवर्तन की आस में / एक चित्र कैसा है ये, कहीं से बदलता नहीं / कैसी भी तपस्या हो, कोई मंत्र फलता नहीं’।

शुभ्रा के इसी संग्रह में और एक कविता है बड़का। पहली दृष्टि में यह कविता बड़का की है। बड़का एक औरत है और गांव में अपने पति के साथ रहती है, न केवल रहती है बल्कि दोनों जमकर दमतोड़ मेहनत करते हैं। लेकिन कवि शुभ्रा की नजर कहीं और टिकी है। नजर है उस असमानता पर जो स्त्री और पुरुष के बीच फैली हुई है। अपने-अपने वर्किंग जोन में दोनों हड्डी तोड़ मेहनत भी करते हैं मगर पुरुष के लिए घर रिलेक्स जोन है जबकि स्त्री के लिए घर ड्यूटी जोन है। स्त्री शहर की हो या गांव की। दोनों को यह असमान व्यवहार समान रूप से मिलता है।

कविता बड़का से इस असमानता के दृश्य देखते हैं :

**दृश्य एक :**

जेठ की दुपहरिया खूब लू चलती/ सिउलाल खलिहान में महुए के / पेड़ के नीचे पड़े खटोले पर / पड़े-पड़े खर्राटे ले लेते।



बड़का का समानांतर दृश्य :

बड़का कभी कुएं से ठंडा पानी भर भर /  
खटोले के नीचे की जमीन तर करती / कभी  
बेना लेकर पैताने बैठ जाती / कभी पसीने पर  
आंचल का फाहा रखती / तो कभी पल भर को  
पाटी पर / सर रख सुस्ताने लगती।

**दृश्य दो :**

सिउलाल सरकारी नलके पर / हाथ गोड़  
धोकर गर्मी की/दुहाई देते खटिया तक पहुंचते।

समानांतर दृश्य :

कुएं के ताजा पानी का लोटा / तब तक  
बड़का धर जाती।

**दृश्य तीन :**

खटिया पर औंधे सिउलाल रेडियो/पर विविध  
भारती के समाचार सुनते

समानांतर दृश्य :

बड़का दहकते चूल्हे में / रोटियां सेंकती  
और अब समानांतर चलती एक लड़की  
एक चित्र देखिए : रात के रोज बारह बजे / जब  
में जाती हूं बिस्तर पर/पहले झांकती हूं बच्चों को  
/ बेटा वीडियो गेम/बेटी कॉमिक / और पति  
बगल में ही / टीवी के रिमोट में व्यस्त।

कवि शुभ्रा उपाध्याय घर से बाहर निकली  
औरत, बड़का और समानांतर चलती एक लड़की  
से एक त्रयी रचना का सृजन करती हैं और इन  
तीनों कविताओं के माध्यम से एक ऐसा कोलाज  
बनाती हैं कि वह पाठकों के दिमाग पर टंग जाता  
है। एक स्थायी प्रभाव छोड़ते हुए। कवि शुभ्रा की

यह उपलब्धि है। असमानता और पुरुष वर्चस्व की  
कहानी कहती एक कविता है, 'औरत की कमाई'।

कवि शुभ्रा की नजर उन औरतों पर जाती  
हैं जो 'जला रही हैं / शब्दों की अंगीठी !/ सिझा  
रही हैं ख्वाबों की कच्ची बालियां! 'ये जानना  
विशेष महत्व रखता है कि यह वह कौन है जो  
ऐसा कर रही हैं? ये हैं 'चौका-बासन करती/  
कूटती-पीसती / साल दर साल / बच्चे जनती'।  
कवि शुभ्रा अपनी कविता आईने में आसमान में  
नोटिस लेती हैं, 'चैली-कंडे में / आग सुलगाते  
सुलगाते/ दहकने लगी है स्वयं / चूल्हे-चौके-  
बासन-हंडिया / सब पर जल्दी जल्दी / लिख  
रही हैं/ एक नई इबारत'। अब यह जानना आंख  
खोलने वाला है कि वे नई इबारत जो वह लिख  
रही हैं, वह है क्या? कवि शुभ्रा ने लिखा है,  
'जरा-सी उम्र की लड़कियों ने/मूंज-सूजा/ उन-  
सिलाई / कलछुल- चमचे और / बेलन- कड़ाही  
के / ताकों में/ बना रखी हैं / अतिरिक्त जगहें /  
सजा रही हैं उनमें / गार्गी-मैत्रेयी / रानी लक्ष्मीबाई  
की जीवनियां'।

शुभ्रा उपाध्याय जितनी सहजता से छंद मुक्त  
कविताएं साधती हैं, छंदबंद कविताएं भी उनकी  
कलम से सहज ही उतरती हैं। छंदबद्ध कविता  
'बेटी का जन्म' ध्यान खींचती है। इस संग्रह में प्रेम  
की अनुठी अनुठी नज्म भी हैं। चाह और चिड़ियां  
मन को छूती हैं। मगर मन को सबसे ज्यादा पीड़ा  
देती हुई कविता है, वह है 'मैं कर सकती थी'। यह  
कविता बार-बार पढ़ी ही जानी चाहिए।

पुस्तक का नाम : **समानांतर चलती एक लड़की** (कविता संग्रह)

कवि का नाम : शुभ्रा उपाध्याय

प्रकाशक : आधिकरण प्रकाशक, दिल्ली

मूल्य : 160/-

समीक्षक : मृत्युंजय

**संपर्क :** सी-11-3, एनबीसीसी विबज्योर टावर्स, न्यू टाउन, कोलकाता - 700156, मो. : 94330 76174

मुक्ताचल अक्तूबर-दिसंबर 2022 121



## ‘मुक्तांचल’ पत्रिका के 35वें अंक का लोकार्पण

हावड़ा : विद्यार्थी मंच द्वारा शुक्रवार 7 अक्टूबर को ‘मुक्तांचल’ पत्रिका के 35वें अंक के लोकार्पण के उपलक्ष्य में हिन्दी साहित्य में निराला के योगदान पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसका मुख्य विषय निराला की लंबी कविता ‘राम की शक्ति पूजा’ थी। कार्यक्रम के आरंभ में हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक शेखर जोशी के निधन पर एक मिनट का मौन धारण किया गया। इसके पश्चात सुषमा कुमारी ने सरस्वती वंदना का पाठ कर कार्यक्रम का आरंभ किया। कार्यक्रम में उपस्थित प्रिया श्रीवास्तव, सरिता खोवाला, स्वराज पांडे, रवींद्र श्रीवास्तव, रिया मिश्रा, युवराज राय द्वारा निराला की कविताओं का पाठ प्रस्तुत किया गया। कार्यक्रम में उपस्थित राम नारायण झा, ‘शब्दकार’ के संस्थापक प्रदीप धानुक, प्रिंस कुमार ने अपनी स्वरचित कविताओं का पाठ प्रस्तुत किया। विवेक कुमार लाल ने निराला के ‘राम की शक्ति पूजा’ की भावपूर्ण प्रस्तुति कर श्रोताओं को भाव-विभोर कर दिया। अपने संबोधन में उन्होंने यह भी बताया कि ‘मुक्तांचल’ पत्रिका के इस 35वें अंक के आवरण पृष्ठ पर बना चित्र पत्रिका की संपादक मीरा सिन्हा के द्वारा बनाया गया है। वह एक सफल अध्यापिका, समृद्ध लेखिका के साथ-साथ एक कुशल चित्रकार भी हैं। युवा कवयित्री श्रद्धा गुप्ता ने अपनी स्वरचित कविता के माध्यम से निराला के जीवनी को प्रस्तुत किया। सभी ने उनके इस प्रयास की सराहना की।

कार्यक्रम में उपस्थित सुरेन्द्र नाथ इवनिंग कॉलेज की युवा प्रवक्ता दिव्या प्रसाद ने अपने वक्तव्य में कहा कि साहित्य एक सुखद पहल है। किताबें खामोश रहकर हमें बोलना सिखाती हैं, पढ़ना सिखाती हैं और भीड़ में हमारा हाथ थाम हमें चलना सिखाती हैं। मुख्य वक्ता के रूप में उपस्थित डॉ. विनय मिश्र ने अपने वक्तव्य में निराला के साहित्य सृजन में उनकी पत्नी मनोहरा देवी के योगदानों को रखा। निराला के विभिन्न रचनाओं पर बात करते हुए उन्होंने निराला की बात रखी - ‘जो योग्य होगा वह जीतेगा’। कार्यक्रम के अध्यक्ष डॉ. ऋषिकेश राय ने अपने वक्तव्य में छायावाद एवं निराला तथा अन्य छायावादी कवियों पर अपनी बात रखी। उन्होंने कहा कि कवि अपनी कविताओं में जितनी बार मरता है कविता उतनी ज्यादा निखरती है और निराला अपनी कविताओं में बार-बार मरते रहे हैं। इसके साथ उन्होंने ‘राम की शक्ति पूजा’ के प्रारम्भिक अंश का पाठ प्रस्तुत किया। कार्यक्रम का कुशल संचालन श्रीप्रकाश गुप्ता ने किया। पत्रिका की संपादक मीरा सिन्हा द्वारा धन्यवाद ज्ञापन कर कार्यक्रम को विराम दिया गया। कार्यक्रम को सफल बनाने में बलराम साव, सुशील पांडेय आदि ने सक्रिय भूमिका निभाई।

प्रस्तुति : सुषमा कुमारी, शोधार्थी, विद्यासागर यूनिवर्सिटी

## प्रख्यात आलोचक डॉ. मैनेजर पाण्डेय एवं कथाकार शेखर जोशी पर श्रद्धांजलि सभा का आयोजन

आसनसोल: ‘सहयोग’ साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था द्वारा आयोजित दिवंगत प्रोफेसर- आलोचक मैनेजर पाण्डेय एवं कथाकार शेखर जोशी जी की याद में एक श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया। कार्यक्रम में निशान्त ने शेखर जोशी की कहानी ‘दाज्यू’ का पाठ एवं मैनेजर पाण्डेय जी के निबंधों एवं व्यक्तित्व पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए कहा कि शेखर जोशी जी भावबोध के कथाकार हैं। वहीं कथाकार संजय जी ने कहा कि मैनेजर पाण्डेय जी प्रमुख आलोचक रहे। संजय जी ने जौनपुर में उनके साथ बिताए हुए पलों को याद किया। उनके वोट, हास्य-व्यंग्य को रेखांकित किया। उनकी सहजता-सरलता किसी को भी मैनेजर पाण्डेय का मुरीद बना देगी, इसकी चर्चा की। नाटककार रामजी सिंह यादव ने ‘कोसी का घटवार’ की चर्चा करते हुए उसे प्रेम के बड़े फलक की कहानी कहा। साथ ही साथ मैनेजर पाण्डेय की किताबों को खरीदकर पढ़ने की अपील की। आलोचक-प्रध्यापक विजय नारायण जी ने नई कहानी के महत्वपूर्ण कहानीकार के रूप में उन्हें याद किया। मैनेजर पाण्डेय की पहली पुस्तक ‘सुर साहित्य की सामाजिकता’ को याद किया, जिसमें उन्होंने सर को ग्रामीण जीवन का कवि कहा। युवा कवि रोहित प्रसाद पथिक एवं आनंद कुमार आनंद जी ने अपनी कविताओं के माध्यम से उन्हें श्रद्धांजलि दी।

कार्यक्रम की अध्यक्षता कथाकार महावीर राजी, बी. सी. कॉलेज के प्रोफेसर बिजयनारायण, बी.बी कॉलेज के प्रोफेसर अरूण पाण्डेय एवं रामजी दुबे जी ने किया। कार्यक्रम में मुख्य रूप से रामजी यादव, विद्योत्तमा झा, अवधेश कुमार ‘अवधेश’, जयराम पासवान, भगवन्त शर्मा, आनंद कुमार ‘आनंद’, शोधार्थी ममता कुमारी, सुनील नायक, धर्मेन्द्र कुमार, रोहित प्रसाद पथिक आदि उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन कवि निशान्त ने किया। धन्यवाद ज्ञापन कथाकार शिव कुमार यादव जी ने दिया। कार्यक्रम बर्नपुर स्थित शिव कुमार यादव जी के आवास पर आयोजित किया गया।

प्रस्तुति : रोहित प्रसाद ‘पथिक’



इस पार तक .....

संजीव

(जन्म: 6 जुलाई, 1947)



घटित या यथातथ्य इतिहास जब लोकमानस में आकार लेता है तो वही नहीं रह जाता है, 'लार्जन दैन लाइफ' हो जाता है। मानव मन-मस्तिष्क की वह कौन-सी निगूढ़ ग्रंथि है कि वह अपने नायक- नायिका को, हार चुके हों फिर भी हारने नहीं देती, मर चुके हों फिर भी मरने नहीं देती। अभिमन्यु या कर्ण मिथ्या हों या सत्य, व्यास की रचित कथा जब जनता की कथा बनती है तो लीक आस्था में एक अलग ही आकार ग्रहण करती है। उपरोक्त दोनों हारे हुए पात्रों को जनता की सहानुभूति प्राप्त है।

साहित्य का सच एक अलग ही सच है, इतना ज्यादा आत्मीय कि उस घटित सत्य का स्थानापन्न बन जाता है। यही आकर साहित्य की ताकत पर गौर करने का मन करता है। विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' में व्यक्ति एक है, पात्र दो है। एक व्यक्ति, दूसरा उसका भूत। एक असली, एक अभासीय। भूत के साथ जनपक्षधरता है, क्योंकि सही अर्थों में वही मानवीय है। असली व्यक्ति तो सिर्फ व्यापारी है। मूल कहानी यद्यपि 'लोक' से ली गई है, पर उसका कथा- 'रूप इस श्लेष और सही जनास्था को इतने शानदार ढंग से स्थापित करता है कि लाखों प्रवचन नहीं कर पाते। विज्ञान, दर्शन उसके पास फटक नहीं पाते हैं।'

सहयोग

मई, 2021



RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

## स्मृतिशेष



## शेखर जोशी

(10 सितंबर 1932 - 04 अक्टूबर 2022)

हावड़ा विद्यार्थी मंच (8/2L No. 8053 of 20/3-2014) 6/2/1, आशुतोष  
मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा-711106 द्वारा प्रकाशित एवं गोपी कृष्ण पालुई,  
शिक्षण द्वारा 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा